रस, अलङ्कार

और

पिङ्गल

रचयिता

पण्डित श्रीरामबहोरी शुक्ल,

एम० ए०, बी० टी०, साहित्यरत्न

प्रोफ़ेसर, गवर्नमेंट सेंट्रल

पेडागाजिकल इंस्टीच्यूट,

इलाहाबाद

प्रकाशक

शक्ति कार्यालय

इलाहाबाद

चौथा संस्करण] सन् १९५० [मूल्य १॥)

आमुख

कविता का स्वरूप समझने के लिए उसके विविध अंगों का परिचय आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक में उन्हीं का सुबोध शैली में वर्णन किया गया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए यथेष्ट उद्धरण दिये गये हैं। उनका पूर्ण रूप से विश्लेषण करके विषय को हृदयङ्गम कराने का प्रयास किया गया है। यथासम्भव खड़ी बोली में ही उदाहरण दिये गये हैं, किन्तु अपनी प्राचीन काव्य-भाषाओं—व्रज एवं अवधी—से भी उपयुक्त अवतरण लिये गये हैं। उन अवतरणों से प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट ही नहीं किया गया, अपितु सरस कविता का रसस्वादन कराने का भी ध्यान रखा गया है। इस प्रकार रस, अलङ्कार और छन्द-शास्त्र के प्रारम्भिक ज्ञान के साधन को भरसक सुगम और रुचिकर बनाने की चेष्टा की गयी है। आशा है इस पुस्तक की सहायता से इन विषयों की जानकारी हो जायगी। जिन लोगों को इनका अधिक विस्तार से अध्ययन करना हो उनके लिए मेरा 'काव्य-प्रदीप' है।

राजापुर (बाँदा) श्रीरामबहोरी शुक्ल

मुद्रक—शक्ति मुद्रणालय इलाहाबाद

विषय-सूची

कविता क्या है ?

ऐसे लोग प्रायः अधिक संख्या में मिलेगे जो किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर यह तो कह सकेंगे कि वे सुन्दर हैं अथवा कुरूप, परन्तु उनमे से ऐसे लोग कम होंगे जो यह बता सकेंगे कि वे उस वस्तु या व्यक्ति को किन कारणों से सुन्दर या असुन्दर समझते हैं उनसे जब पूछा जाता हैं कि उस व्यक्ति की आँख सुन्दर है; वे उत्तर देते हैं, हाँ; फिर इसी तरह वे नाक, ललाट, मुख, हाथ, शरीर का रंग, चाल ढाल सबको सुन्दर बतलाते हैं। तो क्या इनसे किसी एक के सुन्दर होने से वह सुन्दर समझा जाता है अथवा अनेक के सुन्दर होने से ? और फिर क्या केवल शरीर को गठन में ही सौन्दर्य है या और किसी वस्तु में ? जब ऐसी समस्या उपस्थित की जाती है, तब कोई स्पष्ट उत्तर देना सहज नही होता। फिर भी कौन सा व्यक्ति सुन्दर है और कौन कुरूप—यह बतलाना बहुत कठिन नही होता। साथ ही एक बात और है। सब लोगों की रुचि एक सी नहीं होती; न सबके विचार ही समान रूप से परिष्कृत होते हैं। इससे जिस कारण किसी की समझ से कोई वस्तु सुन्दर जान पडती हैं, सम्भव है उसी से दूसरे को वह वैसी न जँचे। हम भारतीय काले केश, आँख की काली पुतली यहाँ तक कि काले वर्ण को भी सुन्दर समझते हैं, (नहीं तो श्याम वर्ण के राम और कृष्ण हमारे आराध्य कैसे होते ?) परन्तु इँग्लैंड वाले भूरे बाल, बिल्ली की-सी कन्जी आँख (जिसे हम लोग सुन्दर नहीं समझते) और श्वेत रंग को सुन्दर मानते है। उनमें स

वहुतेरे हमारे काले रंग पर घृणा तक प्रकट करते हैं। हमारे यहाँ पूर्ण रूप से विकसित पैर का पंजा अच्छा समझा जाता है, परन्तु इसके विपरीत, चीन मे स्त्री के पैर का पंजा जितना ही छोटा हो उतना अधिक मनोहर माना जाता है। यही नहीं, जिस भवन में हिन्दू, मुसलमान या गॉथिक वास्तुकला का सम्यक् निर्वाह देखा जाता है वह भवन निर्माण की कला मे विशारद व्यक्ति को मुग्ध कर लेगा, परन्तु वही किसी अशिक्षित (अथवा वास्तुकला के ज्ञान से रहित) व्यक्ति के लिए ईंट-पत्थर आदि के वने अन्य भवन-सा ही लगेगा, उसे विशेष प्रभावित न कर सकेगा।

सौन्दर्य को जानते हुए भी ठीक-ठीक रीति से व्याख्या करके समझना सुगम नहीं। रुचि, संस्कार आदि के कारण उसकी कोई ऐसी माप या कसौटी नहीं वतायी जा सकती, जो सर्वत्र और सदैव अकाट्य एवं मान्य हो।प्रायः यही, कविता की भी दशा है। किसी अच्छी उक्ति को सुनकर उस पर लट्टू हो जाने वाले वहुत मिलेंगे। उसकी सुन्दरता का विश्लेषण करके उसको प्रकट करने वाले उनसे कम मिलेंगे परन्तु यह वतलाने वाले कदाचित् ही मिलें कि उसे कविता क्यों कहते हैं। इसमे सन्देह नही कि जो लोग कविता के मर्म को समझते और जानते हैं वे उसके विषय मे कुछ न कुछ वतलाने की चेष्टा करेंगे ही, किन्तु उनकी व्याख्या कदाचित् ही ऐसी हो जो कविता के रहस्य को ऐसे ढङ्ग से वतला दे, जो सव लोगों को ग्राह्य हो, और जिसके अनुसार सव देशों और सव कालों मे 'कविता क्या है ?'—यह पुरानी गुत्थी सदा के लिए सुलझायी जा सके।

ऐसी असमर्थता होते हुए भी मनुष्य का मस्तिष्क जिसप्रकार अन्य अगणित विषयों पर विचार करता आया है, और उस विचार को व्यक्त भी करता आया हैं, उसी प्रकार 'कविता' पर भी, जो उसकी सर्वोत्तम विश्राम और शान्तिदायिनी औषधि है, वह वहुत दिनो से चिन्तन करता आया है। तथापि जैसे अन्य विषयो पर सवके विचार

समान नहीं होते, क्योंकि सर्व लोग उन्हें एक ही दृष्टि से तो नहीं देखते और देखते भी हैं तो सब की विचार शक्ति बराबर होती भी नहीं, वैसे ही, 'कविता मे किन-किन गुणों का होना अवश्यक है, और किन का नहीं'—इस पर अभी तक लोग एकमत नहीं हो सके। इसलिए जब इस देश तथा विदेशों के पुराने और नये विचारकों के मतों को पथ दर्शक बनाकर काव्य के विशाल प्रसाद, उद्यान आदि की सैर करने की चेष्टा की जाती है, तब बहुधा उस (काव्य) की भूलभुलैया में ही चक्कर काटते रह जाना पड़ता है। उन सिद्धान्तों में जान पड़ने वाला आपस का विरोध बहुधा बुद्धि को कुंठित-सा कर देता है। उस दशा में वह उस अरसिक सराफ के समान हो जाती है जो सुवर्ण के सुन्दर आभूषण को देखकर, उन्हें कसौटी पर कसना और उसका मूल्य आँकना ही जानता है, उसके सौन्दर्य पर मोहित होना नहीं जानता। फिर भी यदि सोने की वास्तविकता पहचानने की योग्यता किसी में न हो तो उससे बहुधा सोने का पानी किये हुए चमकीले पदार्थ को ही खरा सोना समझ बैठने की अक्षम्य भूल हो जायगी। इसलिए काव्य शास्त्रियों ने कविता की जो कसौटी बतायी है उसको जाने बिना काम नहीं चल सकता।

कुछ लोग 'सुनने मे अच्छे लगनेवाले शब्दों में व्यक्त विचार' को कविता मानते हैं, दूसरे लोग 'मनोहर अर्थ के प्रकट करनेवाले शब्दों'† को काव्य की संज्ञा देते हैं। परन्तु केवल सुन्दर कपड़े, गहने आदि पहनने से कोई सुन्दर नहीं माना जा सकता, और न केवल सुन्दर देह होने से सुन्दर समझा जाता है। एक दूसरे को सुशोभित करने के लिए सुन्दर वस्त्रालङ्कार और शरीर दोनों के विद्यमान होने पर सभ्य समाज मे किसी को सुन्दर कहा जाता है। इसी कारण कुछ

---

† रमणीय अर्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (पण्डितराज जगन्नाथ, 'रसगङ्गाधर' में)।

विद्वान् कविता उसको मानते हैं जिसमें रमणीय अर्थ को प्रकट करने वाले तथा सुनने में भी प्रिय शब्द हों।

लेकिन यदि किसी की देह सुन्दर हो; वह उस पर अच्छे-अच्छे आभूषण और कपड़े भी धारण किये हो, परन्तु उनके मन में अनुभूति और अनुकम्पा न हो तो क्या उसकी ओर कोई आकृष्ट होगा ? ऐसे ही, कविता के लिए मन को मोहित करनेवाले अर्थ, तथा कानों को सुख पहुँचानेवाले नाद से युक्त शब्दों का समूह होना आवश्यक है। इनके अतिरिक्त उसमें ऐसी विशेषता भी अनिवार्य है जो उसकी प्राणदात्री, जीवनी-शक्ति हो। और इसी के कारण किसी उक्ति का प्रभाव पाठक या श्रोता के हृदय मे सदा के लिए स्थापित हो जाता है। इसी को 'भाव' कह सकते हैं। यदि कोई ऐसे भाव सुन्दर और सरल वाक्यों के द्वारा व्यक्त किये जायँ जिनमें अर्थ-सौष्ठव हो और जिनको सुनकर या पढ़कर; लोग अपने शरीर का अस्तित्व भूल-सा जायँ, अलौकिक आनन्द में मग्न हो जायँ, तो उन्हें कविता कहा जा सकता है। इन बातों को संक्षेप मे यों कह सकते हैं—रसात्मक (रसपूर्ण) वाक्य कविता है।

ऐसी ही सरस वाक्यावलि से मनुष्य के हृदय से पशुता का अंश दूर होता और उसका परिष्कार हो जाता है। वह व्यक्तिगत सम्बन्धों के सीमित घेरे से थोड़ी देर के लिए निकलकर सृष्टि के चर और अचर, (अपने निकट के और दूर के) समस्त पदार्थों से रागात्मक सम्बन्ध का अनुभव करने लगता है, उसे जैसे अपने आसपास के पदार्थों, व्यक्तियों आदि के सुख दुख से अनुकम्पा होती है वैसे ही उन वस्तुओं, जीवों, व्यक्तियों आदि से भी होती हैं। ऐसी रसमयी रचना को वास्तव मे कविता कहते हैं। छन्दोबद्ध-रचना मात्र को, भूल से, कविता का नाम देने की जो रूढ़ि-सी चल पड़ी है, वह तोड़नी ही पड़ेगी, और कविता कहलाने का अधिकार उसी सरस उक्ति को देना पड़ेगा जिसको सुनते या पढ़ते ही हृदय में तुरन्त वैसे ही भाव उठने लगें जिनका कथन उसमे हुआ है।

रस

ऊपर कविता के लिए रसमयी होना आवश्यक माना गया है। इसको भली-भाँति स्पष्ट करने के लिए 'रस' का तात्पर्य है जानने की आवश्यकता है।

'रस' का शब्दार्थ है–'आस्वादन करना' या 'चखकर आनन्द लेना'। भोजन के पदार्थों को चखने से ही नहीं, प्रत्युत उनका स्वाद लेने से आनन्द मिलता है और तभी स्वादिष्ट होने पर उनको 'सरस' कहा जाता हैं। इसी से जिह्वा को भोजन से विविध प्रकार के मिलने वाले स्वादों को 'रस' कहा जाता हैं। (जिसके छः प्रकार हैं—मीठा, खट्टा, कड़वा, कसैला, नमकीन और अम्ल।) इसी तरह, काव्य पढ़ने या दृश्य-काव्य (नाटकादि) का अभिनय देखने में रुचिकर आनन्द मिलता है। इसको भी 'रस' कहते है। यह 'रस' किस तरह सिद्ध होता हैं—इसे समझने के लिए उदाहरण की सहायता लीजिए—

मान लीजिए, कोई व्यक्ति किसी निर्जन वन में सन्ध्या समय, अकेला जा रहा है। अचानक सामने से कुछ लोग 'सिंह; सिंह', चिल्लाते एवं भागकर आते हुए दिखायी पड़े। उनकी चिल्लाहट सुनते ही उस व्यक्ति को शङ्का हुई कि कहीं सिंह आकर मुझ पर ही न झपटे। वह ऐसा सोच ही रहा था कि सिंह की दहाड़ भी समीप ही सुनायी पड़ी। तब तो उसका शरीर लगा थर-थर काँपने, उसपर रोमाञ्च हो आया, वह पसीना-पसीना हो गया· परन्तु कुछ देर में न जाने कैसे उसे चेत हुआ। जिधर से सिंह की गरज सुनायी पड़ रही थी वह उसकी विपरीत दिशा की ओर भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार उसके हृदय में 'भय' पूर्णरूप से पैठ गया। उसको इस दशा का विश्लेषण करने पर विदित होगा कि—

(१) 'भय' का विषय सिंह है, अर्थात् 'भय' सिंह के प्रति है।

(२) इस 'भय' के उदय से ही उसके मन में यह विचार या शङ्का

उत्पन्न हुई कि कहीं सिंह मुझ पर आक्रमण न करे, तथा

(३) 'भय' के कार्य या परिणाम हुए—कम्प, रोमाञ्च, स्वेद, पलायन आदि।

किसी व्यक्ति या पात्र विशेष के हृदय मे भय का जैसा वास्तविक सञ्चार ऊपर के उदाहरण में दिखाया गया है, वैसा ही सञ्चार यदि किसी काव्य या नाटक के पात्र विशेष में दिखाया जाय तो उसके पाठक या दर्शक को भी वैसे ही भय का अनुभूति होगी। परन्तु यह अनुभूति वास्तविक न होकर रसात्मक होगी, अर्थात् इस प्रकार पाठक या दर्शक के द्वारा अनुभव किया गया 'भय' भयानक रस कहलायेगा।

[रसात्मक अनुभूति चाहे जिस किसी भाव की हो, आनन्द स्वरूप ही कही जायगी। अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण भय, घृणा, ग्लानि आदि का साक्षात् अनुभव चाहे निरानन्द हो, परन्तु इनका काव्य या नाटक के द्वारा उपलब्ध रसात्मक अनुभव आनन्दप्रद ही होता है। कारण, रस के अनुभव की दशा मे ऐसी तन्मयता या विस्मृति हो जाती है कि अनुभवकर्ता को अपने व्यक्तित्व या अस्तित्व का तनिक भी ध्यान ही नहीं रह जाता।]

ऊपर दिये हुए 'भय' के साक्षात अनुभववाले उदाहरण मे :—

(१) भय का विषय—सिंह—पारिभाषिक शब्द मे 'आलम्बन' कहा जायगा।

(२) उस विषय का व्यापार—सिंह की दहाड़—'उद्दीपन' होगा। (क्योंकि उसके कारण पात्र का भय उद्दीप्त हुआ—उत्तेजित हुआ।)

(३) भय के उदय होने से सिंह के आक्रमण करने की शङ्का 'सञ्चारी' कही जायगी। और

(४) भय का सञ्चार होने पर पात्र के शरीर का काँपना, रोमाञ्च, स्वेद आदि कार्य 'अनुभाव कहे जायँगे।

(५) अनुभाव कहलाने वाली पात्र की शरीरिक चेष्टाओं और सञ्चारी कही जानेवाली उसकी शङ्का के आविर्भाव के समय 'भय' नामक भाव कारण रूप से बराबर बना रहा। इसी से वह 'स्थायी भाव' कहा जायगा।

[सूचना—आलम्बन और उद्दीपन—विभाव कहलाते है। ये दोनों विभाव के भेद हैं।]

जब स्थायी भाव आलम्बन के द्वारा उत्पन्न, उद्दीपन के द्वारा उद्दीप्त (उत्तेजित होता व बढ़ाया जाता) और सञ्चारी के द्वारा सञ्चरित (पुष्ट) होकर अनुभावो के द्वारा व्यक्त हो जाता है तब उसका नाम 'रस' पड़ता है। इसी लिए 'स्थायीभाव मे विभाव, सञ्चारी और अनुभाव का संयोग होने पर रस का परिपाक माना जाता है। जहाँ इन सब का संयोग नही होता वहाॅ पूर्ण रस न मान कर रसाभास माना जाता हैं।अत' कोई स्थायी भाव 'रस' तभी कहा जायगा जब उसे उपर्युक्त विभाव, सञ्चारी और अनुभाव का संसर्ग प्राप्त हो। यथा, 'दशरथ को राम के वन चले जाने पर शोक हुआ' केवल इतना कहने से हमारे हृदय पर उनके शोक का प्रभाव नही पड़ता। उसमे शोक की अनुभूति नही होती। परन्तु इस अनुभूति की उत्पत्ति तब होती हैं जब यो कहा जाता है—"युवराज राम, जिन को थोड़ी देर पहले तक राज्य प्राप्त करने की आशा थी, विमाता कैकेयी के कथन को अपने पिता की आज्ञा समझ लक्ष्मण और सीता के साथ वन जाने को खड़े है। राजभवन मे हाहाकार मच रहा है। पुर-वासी इस अनहोनी बात का समाचार सुन भौचक्के से राज-द्वार पर खड़े सिसक रहे हैं। कुछ वयोवृद्ध स्त्रियाॅ कैकेयी को समझाने की चेष्टा करती है। वह नही मानती। दशरथ राम को रोकना चाहते हैं: पर धर्म-भ्रष्ट होने के भय से उनके मुॅह से वचन नही निकलते।अन्त मे राम चल खड़े होते है। दशरथ के मुॅह से केवल 'हा

राम ! हा राम !' निकलता है। वे पछाड़ खाकर, भूमि पर अचेत गिर पड़ते हैं।"

ऊपर रस के जिन साधकों का उल्लेख किया गया है, उनको पहले स्पष्ट करके फिर रस का विवेचन किया जायगा।

स्थायी भाव

मानव हृदय में कुछ भाव सुप्तावस्था में-से, अज्ञात रूप में, सदैव विद्यमान रहते हैं, और अनुकूल अवसर पाने पर (जैसे, किसी काव्य के पढ़ने या नाटक का अभिनय देखने पर) जागरित हो उठते हैं। इनको स्थायी भाव कहा जाता है।

यद्यपि हृदय के सभी भावों की गणना सुगम नहीं, फिर भी कुछ ऐसी प्रधान मनोवृत्तियाँ निश्चित-सी हो गयी है। उनमें से किसी न किसी मे अन्य वृत्तियों का समावेश किया जा सकता है। इसलिए प्रधान स्थायीभावों की सख्या नो मानी गयी है। प्रेम (रति), हास, शोक, क्रोध उत्साह, भय, घृणा (जुगुप्सा) और निर्वेद या वैराग्य। इन भावों के पुष्ट होने पर क्रमश शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर भयानक वीभत्स और शान्त¹—ये नौ रस होते है।

सूचना—यद्यपि 'प्रेम' नामक स्थायी भाव के कई रूप होते हैं—जैसे, पति-पत्नी का प्रेम, माता-पिता का प्रेम, भाई-भाई या भाई-बहन का प्रेम, मित्रों का प्रेम आदि—तथापि लोक में अधिकतर पति पत्नी का प्रेम ही व्यापक देखा जाता है। इससे काव्य मे इसी प्रेम की अधिक अभिव्यक्ति हुई है। तभी 'शृङ्गार' रस मे केवल स्त्री-पुरुष की रति की सिद्धि का समावेश होता हैं, परन्तु लोक मे सन्तान विषयक प्रीति भी कम व्यापक नही। इस पर कविता भी प्रचुर परिमाण मे हुई है। इस कारण कुछ आचार्य वत्स-प्रेम को भी

---

¹दृश्यकाव्य (नाट्य-शास्त्र) के आचर्यों ने उक्त स्थायीभावो मे अन्तिम, अर्थात् निर्वेद को नही स्वीकार किया। वे 'शान्त' रस नहीं मानते। इसलिए उनके मत के अनुसार आठ रस ही होते है।

स्थायी भाव मानते है। इसके फल-स्वरूप वात्सल्य रस भी माना जाता है।

विभाव

किसी भाव का प्रवर्त्तन करने के लिए दो पक्ष आवश्यक होते है। एक तो वह जिसके हृदय मे भाव उत्पन्न और सञ्चारित होता है; और दूसरा वह जिसके प्रति भाव प्रवृत्त होता है।

(१) जिससे हृदय मे भाव का उदय और सञ्चार होता है उसे 'आश्रय' कहते हैं, और (२) जिसके प्रति भाव की प्रवृत्ति होती है उसे 'आलम्बन' कहते है। जैसे, सिह को देखकर भयभीत होने वाले व्यक्ति सम्बन्धी उक्त उदाहरण मे (१) भयभीत व्यक्ति 'आश्रय' है और (२) सिह 'आलम्बन'।

किसी के प्रति कोई स्थायी भाव 'आश्रय' के हृदय मे उत्पन्न हो कर, कुछ बातो को सुनने या कुछ वस्तुओ के देखने के बढ़ता भी है। जैसे, उसी सिह को देखकर भयभीत होने वाले व्यक्ति के उदाहरण मे—सिह का गर्जन सुनायी पड़ना। इसका 'उद्दीपन' कहते हैं। उद्दीपन के दो प्रकार होते हैं'—

एक वे व्यापार जो आलम्बन में ही होते है, अर्थात् आलम्बन की शरीरिक चेष्टाऍ—मुसकान, इंगित, कटाक्ष, बात-चीत आदि। इनका सम्बन्ध आलम्बन के शरीर से ही होता है। जैसे सिह से भयभीत होने वाले उक्त उदाहरण मे 'सिह का गर्जन'। यह आलम्बन गत उद्दीपन है।

दूसरे वे कार्य या पदार्थ जो आलम्बन से अलग होते है; अर्थात् जिनका सम्बन्ध आलम्बन के शरीर से सम्बन्ध रखने वाले कार्यो से नही होता। जैसे, उस सिह को देखकर भयभीत होनेवाले उदाहरण मे 'निर्जन वन और संध्या समय'। ये आलम्बन से बहिर्गत उद्दीपन है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे प्रकट होता है कि जो भाव

सामान्यतः वासना के रूप में आश्रय के हृदय में प्रसुप्त अवस्था मे स्थिर रहते हैं, वे किसी व्यक्ति, वस्तु, बात या परिस्थिति को पाकर जाग पड़ते हैं। भाव को उद्‌बुद्ध करने वाले व्यक्ति, वस्तु आदि [अर्थात् आलम्बन] और [उनकी] बातें, चेष्टाएँ तथा देश काल की स्थिति [अर्थात् उद्दीपन] विभाव कहलाते हैं।

अनुभाव

भावो का नाम लेने और उनके उत्पन्न करने के साधनों को कह देने से ही काव्य में रस की सिद्धि नहीं मानी जाती। "लक्ष्मण को परशुराम की कड़ी-कड़ी बातें सुनकर क्रोध आ गया"—ऐसा कह देने से श्रोता के हृदय मे लक्ष्मण के क्रोध से उत्पन्न रौद्र रस की अनुभूति न होगी। वह तभी होगी जब क्रोध के प्रकट होने वाली लक्ष्मण की शारीरिक चेष्टाओं—आँख का लाल होना, होठ, नथनो' भौंहों आदि का फड़कना, मुख से कठोर उत्तर का निकलना आदि—का प्रदर्शन हो। अतः आश्रय की शारीरिक क्रियाओं की अभिव्यञ्जना रसात्मकता के लिए अत्यावश्यक है।

आश्रय के शरीर के जिस विकार' कार्य आदि से विभावों की सहायता से उसके मन मे स्थित भाव के जागरित होने का ज्ञान होता है' वह अनुभाव कहलाता है। अनुभाव के दो रूप होते हैं।

कुछ ऐसे शारीरिक विकार या कार्य होते हैं जिनके उत्पन्न होने' न होने पर आश्रय का एक प्रकार से अधिकार रहता है। वे उसकी इच्छा से ही प्रकट होते हैं उनको कायिक अनुभाव कहते हैं जैसे' किसी [आलम्बन] के प्रति क्रोध उत्पन्न होने पर नथने' ओठ आदि के फड़कने पर आश्रय का अधिकार होता है। ये कार्य उसकी काया पर प्रकट अवश्य होते हैं, पर वह चाहे तो इनको रोक भी सकता है। इन्हें कायिक अनुभाव कहते हैं।

परन्तु' कुछ ऐसे शारीरिक व्यापार या कार्य होते हैं जिनके प्रकट होने न होने पर आश्रय का अधिकार नही रहता। वे शरीर को

स्वाभाविक क्रिया-से होते हैं। जैसे' फुफकारते हुए काले साँप को अपने सामने आता देखते ही दर्शक की घिग्घी बँध जाती है, बहुतेरा यत्न करने पर भी उसके मुँह से बात नहीं निकलती; वह वहाँ से भागना भूल-सा जाता है। ये व्यापार आप-से-आप शरीर के द्वारा हो जाते हैं। ये कार्य सीधे चित्त की जन्मजात मनोवृत्ति, अर्थात् सत्व से उत्पन्न होते हैं। इसी से उनको सात्विक अनुभाव कहते हैं।

कायिक अनुभाव यत्नज होते है किन्तु सात्विक अयत्नज। सात्विक अनुभाव आठ होते हैं:—

(१) स्तम्भ (प्रसन्नता, लज्जा, व्यथा आदि से शरीर की गति का आप-से-आप रुक जाना),

(२) स्वेद (श्रम' अनुराग, आश्चर्य आदि, से शरीर का स्वतः पसीने से भर जाना),

(३) रोमाञ्च (हर्ष, भय आदि से रोंगटों का खड़ा हो जाना),

(४) स्वर-भङ्ग (स्वाभाविक रीति से जैसे शब्द निकलते हैं वैसे न निकलना; चुप-सा हो जाना),

(५) कम्प (शरीर का थर-थर काँपने लगना),

(६) वैवर्ण्य या विवर्णता (चेहरे का रङ्ग उड़ जाना, उसका फीका पड़ जाना),

(७) अश्रु (अकस्मात् आँखो से आँसुओं का बहने लगना), और

(८) प्रलय (सुध-बुध का खो जाना या चेतना-शून्यता।)

यह स्मरण रखना चाहिए कि आश्रय की चेष्टाएँ ही अनुभाव के अन्तर्गत हैं' आलम्बन की नहीं।

सञ्चारी या व्यभिचारी भाव

स्थायी भाव तो प्रधान मानसिक-क्रियाएँ हैं। इनके साथ ही कुछ ऐसी अस्थायी मानसिक क्रियाएँ भी होती हैं जिनका आविर्भाव कुछ काल के लिए ही होता है। वे स्थायी भावों के समान निरन्तर नहीं रहतीं स्थायी भावों को पुष्ट करके ही विलीन-सी हो जाती हैं। ऐसे

भाव सञ्चारी कहलाते हैं' क्योंकि जब तक स्थायी या प्रधान भाव बने रहते हैं तब तक ये बराबर सञ्चरण करते हैं' आने-जाने रहते हैं।

इस तरह के भावों को व्यभिचारी भी कहते हैं। कारण, व्यभिचारी का अर्थ है जो किसी एक में दृढ़ता-पूर्वक न टिके। सञ्चारी भाव किसी एक ही रस में वैसे ही बँधे नहीं रहते जैसे स्थायी भाव बँधे रहते हैं ये कभी किसी के साथ प्रकट होते हैं और कभी किसी के साथ इसी अस्थिरता के कारण ये व्यभिचारी कहलाते हैं।

कोई भाव सञ्चारी या व्यभिचारी तभी कहा जायगा जब वह किसी प्रधान (स्थायी) भाव के कारण उत्पन्न हो और उसके सम्बन्ध में ही रहे। यदि वह स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होता है एवं किसी प्रधान भाव के अधीन नहीं रहता तो उसे सञ्चारी नहीं कहा जाता, केवल भाव कहा जाता है। जैसे, नायक का सौत के प्रति प्रेम होने पर नायिका के मन में जो ईर्ष्या का भाव उत्पन्न होगा वह नायक के प्रति उसके प्रेम-भाव में बाधक होने से जन्म लेगा। इससे सञ्चारी भाव होगा। परन्तु यदि किसी वीर, धनी या बुद्धिमान की बढ़ती देख कर सुनकर ईर्ष्या उत्पन्न होगी तो वह किसी के प्रति प्रेम की साधक या बाधक न होने के कारण सञ्चारी न मानी जायगी, केवल भाव कही जायगी।

उदासीनता (निर्वेद[1]), आवेग, दीनता, श्रम, मद, जड़ता[2], मोह, शङ्का, चिन्ता, ग्लानि (अनुत्साह और शिथिलता), विषाद, व्याधि, आलस्य

---

[1]सांसारिक पदार्थों की असारता समझ जाने पर उनसे उदासीनता होती है, 'निर्वेद' होता है। इसी से संसार से विराग होता है। यह निर्वेद 'शान्त रस' का स्थायी भाव है। और उदासीनता या निर्वेद सञ्चारी से तात्पर्य है, किसी काम में जी न लगने या उससे जी हट जाने की मानसिक स्थिति। 'निर्वेद' स्थायी और 'निर्वेद' सञ्चारी का यह अन्तर ध्यान से न हटने देना चाहिए।

[2]स्तम्भ सात्विक में शरीर की गति रुक जाती है। जड़ता सञ्चारी में किसी साध्य का स्थिर न हो सकने पर मन उसकी ओर प्रवृत्त नहीं होता।

अमर्ष, हर्ष, गर्व, असूया (डाह), मति, चपलता, लज्जा, अवहित्थ (छिपाव) निद्रा, स्वप्न, विबोध (जागना), उन्माद, अपस्मार (मृगी), स्मृति, उत्सुकता, त्रास, वितर्क और मरण— ये तेंतीस सञ्चारी (व्यभिचारी) भाव माने गये हैं।

इनके अतिरिक्त और भी मानसिक दशाएँ हो सकती हैं जो सञ्चारी भाव मानी जा सकती हैं। पर वे सञ्चारी तभी होंगी जब किसी स्थायी (प्रधान) भाव की पुष्टि के लिए आयी हों।

कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि कोई स्थायी भाव दूसरे स्थायी भाव का सञ्चारी हो जाता है। ऐसा सञ्चारी वही होगा जो रस-सिद्धि तक अपना अस्तित्व न रखे, बीच में विलीन-से हो जाय। जैसे, शृङ्गार मे अन्त तक निरन्तर अपनी स्थिति रखने के कारण रति (दाम्पत्य) स्थायी भाव है; परन्तु उसे पुष्ट करने के लिए बीच में आया हुआ हास्य-रस का स्थायी भाव 'हास' उसका सहायक होने से उस (रति) का सञ्चारी माना जायगा।

प्रायः शृङ्गार और वीर मे (हास्य का स्थायी) 'हास', वीर मे (रौद्र का स्थायी) 'क्रोध' और शान्त मे (वीभत्स का स्थायी) 'जुगुप्सा' सञ्चारी हुआ करते है।

जैसे कभी कोई स्थायी दूसरे स्थायी का सञ्चारी भाव हो जाता है, वैसे ही बहुधा कोई सञ्चारी भाव भी दूसरे का सञ्चारी हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो भाव प्रधान रहेगा वह स्थायी माना जायगा। और जो अन्त तक बराबर न बना रहेगा, बीच मे ही लुप्त सा-हो जायगा वह सञ्चारी।

सञ्चारी और स्थायी भाव का अन्तर समझने के लिए, जैसा पहले बतलाया जा चुका है, स्मरण रखना चाहिए कि जो भाव निरन्तर बना रह-कर अन्त में रस की अवस्था तक पहुँच जाता है वह स्थायी भाव होता है, और जो उसे पुष्ट करने मे केवल सहायता करने के लिए कभी प्रकट और कभी लुप्त होता है वह सञ्चारी या व्यभिचारी कहा जाता है।

रस के भेद

भाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारी का रूप समझ लेने पर इनके संयोग से सिद्ध 'रस' का रूप समझना कुछ सरल हो जायगा। जैसा कहा जा चुका है, काव्य में रस के शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत और शान्त ये नौ प्रकार प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। बहुत से लोग वात्सल्य रस भी मानते हैं। इन्हीं दस रसों का नीचे क्रमानुसार परिचय दिया जायगा।

शृंगार रस

कामदेव के अङ्कुरित होने को 'शृङ्ग' कहते हैं। उसके आगमन का हेतु रूप रस 'शृङ्गार' कहा जाता है। यह अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रहता है। अर्थात् इसमें स्त्री पुरुष का पवित्र प्रेम नामक भाव रसत्व को प्राप्त होता है।

स्त्री और पुरुष के मिलने और बिछुड़ने के कारण उनके मानसिक विकारों में, दोनों दशाओं में, नितान्त विभिन्नता सी हो जाती है। इस कारण शृङ्गार रस के दो पक्ष होते हैं, (१) संयोग (या सम्भोग') और (२) वियोग (या 'विप्रलम्भ')।

संयोग शृङ्गार में एक दूसरे से मिलने पर नायक और नायिका के आनन्द-प्रद मिलन, वार्तालाप, दर्शन, स्पर्श आदि विविध कार्यों का वर्णन होता है; परन्तु वियोग शृङ्गार में एक-दूसरे से अलग रहने पर उनकी दु:खपूर्ण दशा का वर्णन होता है।

शृंगार रस का

स्थायी भाव—रति या नायक-नायिका का परस्पर प्रेम है;

आलम्बन विभाव—नायक अथवा नायिका है। [जब नायक आश्रय होता है तब आलम्बन होती है नायिका; और जब नायिका आश्रय होती है तब आलम्बन होता है नायक।]

उद्दीपन विभाव—नायक अथवा नायिका की वेश भूषा, उनकी विविध चेष्टाएँ, सङ्केत, मुसकान आदि पात्रगत हैं; तथा चन्द्रमा, चाँदनी रात चन्दन, वसन्त ऋतु, सुगन्धित पवन, वाटिका, उपवन, एकान्त-स्थल, आदि पात्र से वर्हिगत हैं;

[ये वहिर्गत उद्दीपन संयोग-काल में आनन्द को बढ़ाते हैं; परन्तु वियोग-दशा में क्लेश को बढ़ाने वाले हो जाते हैं। वियोग में सूनी सेज, कोयल की कूक' पपीहा की पुकार आदि अन्य उद्दीपन भी होते है। सच तो यह है, कि संयोग समय की सभी सुखद वस्तुएँ वियोग के समय दु.खद हो जाती हैं।]

अनुभाव—(आश्रय की) अनुराग-पूर्ण दृष्टि' भृकुटिभङ्ग, कटाक्ष, अश्रु, वैवर्ण्य आदि होते हैं;

सञ्चारी—तेतीसो सञ्चारी भाव हो सकते हैं'

[इस रस में सुखात्मक और दुखात्मक, दो पक्ष होने से इसमें सभी सञ्चारी भाव इसके स्थायी भाव रीति की पुष्टि में सहायक हो सकते है।]

नीचे संयोग और वियोग दोनो प्रकार के शृङ्गार के उदाहरण दिये जाते है:—

(१) संयोग

चितवन चकित चहूँ दिसि सीता , कहँ गये नृप-किसोर मन चीता।
लता-ओट तब सखिन लखाये , स्यामल गौर किशोर सुहाये ॥
देख रूप लोचन ललचाने , हरषे जनु निज निधि पहिचाने।
थके नयन रघुपति छवि देखे , पलकन्हहू परिहरी निमेखे ॥
अधिक सनेह देह भइ भोरी , सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।
लोचन-मग रामहिं उर आनी , दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥

यहाँ (नायिका) सीता आश्रय है, और उनके हृदय में स्थित राम के प्रति 'प्रेम' नामक भाव स्थायी है। (नायक) राम आलम्बन विभाव

हैं। लता मण्डप—उद्दीपन है, एकटक देखना (पलकन्हहू परिहरी निमेखे) तथा उनकी देह का शिथिल हो जाना (देह भइ भोरी)—इनमे 'प्रलय' सात्विक अनुभाव है। तथा-लोचन, ललचाने, में अभिलाप, 'हरपे' से हर्ष, एवं 'मन सकुचानी, से व्रीडा (लज्जा)—ये सञ्चारी हैं

इस प्रकार विभाव, अनुभाव और सञ्चारी के संयोग से 'रति' स्थायी भाव शृंगार रस की सिद्धि करने मे समर्थ हुआ। यहाँ प्रेम नायिका की ओर से आरम्भ हुआ।

नीचे नायक की ओर से आरम्भ प्रेम देखिये—

समय जानि गुरु आयसु पाई, लेन प्रसून चले दोउ भाई।
भूप बागबर देखेउ जाई, जहँ बसंत रितु रही लोभाई॥
चहुँदिसि चितय पूँछि मालोगन, लगे लेन दल-फूल मुदित मन।
तेहि अवसर सीता तहँ आई, गिरजा पूजनि जननि पठाई॥
संग सखी सब सुभग सयानी, गावहिं गीत मनोहर बानी।
कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुँदुभी दीन्ही, मनसा बिस्व-बिजय कहँ कीन्ही।
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा, सिय-मुख ससि भये नयन चकोरा॥
भये बिलोचन चारु अचंचल, मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।
देखि सीय सोभा सुख पावा, हृदय सराहत, बचन न आवा॥

करत बतकही अनुज सन मन सिय-रूप लुभान।
मुख-सरोज-मकरंद-छवि करै मधुप इव पान॥

यहाँ (नायक) राम आश्रय हैं और उनके हृदय में स्थित सीता के प्रति प्रेम स्थायी भाव है। (नायिका) सीता—आलम्बन है। भूप (जनक) का बाग तथा कंकन, किंकिन आदि की ध्वनि—उद्दीपन हैं। (राम के) नेत्रों की अचंचलता (स्थिरता), मे प्रलय, तथा (उनके) मुख से वचनों के न निकलने, में स्वर भंग—ये सात्विक अनुभाव हैं। 'देखि सीय सोभा सुख पावा' में 'हर्ष' सञ्चारी है।

इस तरह यहाँ विभाव, अनुभाव, और सञ्चारी के संयोग से 'प्रेम' स्थायी में रस की सिद्धि हुई ।

(२) वियोग

नायक की वियोग दशा

भूषन वसन विलोकत सिय के
प्रेम विवस मन, कंप, पुलक तन; नीरज-नयन नीर भरे पिय के ।
सकुचत कहत सुमिरि उर उमगत; सील सनेह सु-गुनगन तिय के ॥

यहाँ, पिय' अर्थात् राम आश्रय हैं । सीता के प्रति उनका प्रेम स्थायी भाव है, जो उनके अलग हो जाने पर आश्रय (राम) के हृदय मे व्यक्त होता है । सीता—आलम्बन है । सीता के भूषण और वस्त्र—उद्दीपन हैं । 'कंप; 'पुलक' (रोमांच) और (नीरज नयन नीर भर' मे) 'अश्रु' सात्विक अनुभाव हैं; सकुचत कहत' से व्रीडा और 'सुमिरि उर उमगत' से 'स्मरण' सञ्चार प्रकट होते हैं ।

इस तरह विभाव, अनुभाव और सञ्चारी से युक्त 'रति' स्थायी मे रस का परिपाक हुआ । यहाँ आलम्बन (नायिका) के अपने से अलग हो जाने पर आश्रय (नायक) मे यह रस प्रकट हुआ । अत' वियोग शृंगार हुआ ।

नायिका की वियोग दशा

शान्ति स्थाउ महान कण्व¹ मुनि के पुण्याश्रमोद्यान² मे ।
बाह्यज्ञान³ विहीन, लीन अति ही दुष्यन्त के ध्यान मे ॥
बैठी मौन शकुन्तला सहज थी सौन्दर्य से सोहती ।
मानों होकर चित्र मे खचित-सी थी चित्त को मोहती ॥

---

१ शकुन्तला के पालनकर्त्ता ऋषि । २ पवित्र आश्रम का उद्यान ।
३ चेतना, होश

यहाँ शकुन्तला आश्रय है। उनके हृदय में स्थित दुष्यन्त के प्रति 'प्रेम' स्थायी भाव है। दुष्यन्त—आलम्बन है। कण्व ऋषि का शांत, पवित्र आश्रम का उद्यान—उद्दीपन है। 'शकुन्तला के मौन बैठने' में स्तम्भ सात्विक अनुभाव हैं। उसके 'बाह्य ज्ञान-विहीन-होने तथा 'ध्यान में लीन होने' में 'जड़ता' सञ्चारी है।

अतः विभाव, अनुभाव और सञ्चारी से युक्त 'रति' स्थायी से यहाँ रसत्व की प्राप्ति हुई। आश्रय (नायिका) की यह दशा आलम्बन (नायक) के पास न रहने से हुई। इससे वियोग शृङ्गार हुआ।

नीचे नायक और नायिका दोनों के हृदय में एक साथ ही 'प्रेम' स्थायी का उत्पत्ति और विभाव, अनुभाव और सञ्चारी के संयोग से उसके रसत्व की प्राप्ति का वर्णन है:—

दोऊ जन दोऊ को अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छवि-सागर को छोर हैं।
'चिंतामनि' केलि को कलानि के विलासनि सों'
दोऊ जन दोऊन के चित्तनि के चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुसुकानि-सुधा बरषत
दोऊ जने छके मन्द-मद हूई ओर हैं।
सीताजू के नैन रामचन्द्र के चकोर भये।
राम-नैन सीता-मुख-चन्द्र के चकोर हैं।

यहाँ राम सीता—आलम्बन हैं। दोनों का अनूप-रूप, केलि-कलाओं का विलास—उद्दीपन है। मन्द मन्द मुसकान, मोद मद से छके होना, पारस्परिक दर्शन—अनुभाव हैं। 'हर्ष' सञ्चारी है।

हास्य रस

किसी व्यक्ति या पदार्थ का (साधारण से भिन्न' अनोखा) विकृत (बिगड़ा हुआ, भद्दा या कुरूप) आकार, किसी अनोखे ढंग की

वेष-भूषा, बातचीत विचित्र प्रकार की चेष्टाएँ आदि देखकर हृदय मे जो विनोद का भाव पैदा हुआ करता है वह 'हास' कहलाता है। यही 'हास' जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारी मे पुष्ट होता है तब 'हास्यरस' का परिपाक हो जाता है।

हास्य रस का

स्थायीभाव—'हास' होता है;

आलम्बन विभाव*—विकृत या असाधरण आकृत वाला व्यक्ति या पदार्थ होता है।

उद्दीपन विभाव—आलम्बन की अनोखी आकृति, बातें, चेष्टाएँ आदि पात्रगत हैं। हास्य मंडली। अनोखी वेष-भूषा से सज्जित समाज आदि पात्र के बहिर्गत उद्दीपन हो सकते हैं,

अनुभाव—(आश्रय की) मुसकराहट, हँसी ·अट्टहास, नेत्रों का मिचना' उनसे आँसुओं का गिरना आदि हैं;

सञ्चारी—हर्ष, आलस्य, चपलता, अवहित्थ आदि है।

सूचना—इस रस की सिद्धि बहुधा केवल आलम्बन का वर्णन करने मे हो जाती है। इसमें विभाव आदि की योजना की आवश्यकता नहीं पड़ती।

विश्वविमोहनी नाम की परम सुन्दरी राजकुमारी की प्राप्ति की इच्छा मे एक बार नारद ने अपने इष्टदेव विष्णु भगवान से अनुपम सौन्दर्य मांगा। विष्णु ने उनकी साधुता की रक्षा का विचार करके उनके मुँह का आकार बन्दर का-सा कर दिया। मुनि ने समझा मुझे बहुत सुन्दर रूप मिल गया

---

*पुराने कवियों के हास्य के आलम्बन बहुधा कञ्जूस या अनुदार दाता हुआ करते थे। अब धाक शूर नेता, स्वच्छन्दताप्रिय नारी: अँगरेजी वेशभूषाधारी देशी साहब, बनावटी साधु आदि अनेक नये आलम्बनों को लेकर हास्य रस की धारा बहायी जाने लगी है।

है; इसी भावना के साथ उक्त राजकुमारी के स्वयंवर की रंगभूमि में —

जेहि समाज बैठे मुनि जाई, हृदय रूप-अहमित अधिकाई।
तहँ बैठे महेसगन दोई, करहिं कूट नारद ही सुनाई॥
रीझिहि राजकुँअरि छवि देखी, इनहिं बरिहि हरि*जान विसेखी।
जदपि सुनहिं मुनि अटपट बानी, समुझि न परै बुद्धि भ्रम सानी॥
काहु न लखा सो चरित विसेखा, सो सरूप नृपकन्या देखा।
मर्कट बदन भयंकर देही, देखत हृदय क्रोध भा तेही॥
जेहि दिसि बैठे नारद फूली। सो दिसि तेहि न विलोकी भूली।
पुनि पुनि मुनि उसकहिं अकुलाहीं, देखि दसा हरगन मुसुकाहीं॥

यहाँ 'हरगन' आश्रय हैं। (नारद) मुनि—आलंबन हैं। उनकी बन्दर की-सी आकृति उनका बार-बार उचक-उचककर राजकन्या की को आकृष्ट करने का प्रयास—ये उद्दीपन विभाव हैं। (आश्रय) 'हरगन' का कूट (दोहरे अर्थ वाली बातें) कथन तथा उनका मुसकराना—अनुभाव हैं। मुसकराहट, हँसी की बातों आदि से सूचित 'हर्ष' सञ्चारी है। अतः यहाँ विभाव, अनुभाव और सञ्चारी के योग से हास्यरस की पूर्ण सिद्धि हुई।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए, जिसमें केवल आलम्बन के लोक में पाये जाने वाले साधारण रूप से भिन्न आकार के वर्णन से ही हास्य-रस की सिद्धि हो जाती है—

किसी मथुरामल नामक कंजूस ने किसी को बड़ी कठिनाई से बहुत ही घिसी हुई चवन्नी दी उसे देते समय उसका मुँह सूख गया। बेचारा सोच रहा था कि हाय चवन्नी अब गयी। उधर उसे पाते ही पाने वाले के मुँह का भी रंग उड़ गया। सोचने लगा इसका क्या करूँगा! नाम मात्र

---

*विष्णु बन्दर। 'हरि' से शिव के गणों का अभिप्राय 'बन्दर' था। परन्तु मुनि उनके इस व्यंग्य को नहीं समझते थे। कि ये लोग मेरे रूप के महत्व के कारण मुझे 'विष्णु' समझ कर ऐसा कह रहे हैं।

की चवन्नी को ले वह घर न गया। सीधे शराफ की दूकान में पहुँचा। मूल्य पूछने पर शराफ उलटा लगा घूँसा दिखाने। बेचारा आगे बढ़ा। कोई उसका मूल्य उदारतापूर्वक अधेला कहता था, कोई छदाम और कोई केवल दो कौड़ी भी नहीं बतलाता था। विवश हो, उसने इस आशा से कि उसमें जितना चाँदी है उसी को ले जाकर बेचने पर सम्भवतः कुछ अधिक दाम मिल जाय, उसको सोनार के हाथ में रखा। ज्योंही सोनार ने आग पर रखकर फूँकनी से फूँक मारी कि चवन्नी मक्खन की तरह पिघल कर बह गयी। कहीं उसका पता भी न चला। इस तरह, आगे लिखा, चवन्नी के सूक्ष्माकार का वर्णन ही हास्य-रस को उत्पन्न करने में समर्थ हुआ:—

देखत सूखि गये मथुरामल, हौं गयो सूखि लख्यो जबै मूकी[1]।
धाय के हाथ धर्‌यों जो सराफ के सो उन देखि, दिखावत मूकी॥
कोई कहै यह धेला छदाम की, कोई कहै नहिं कौड़िहु दू की।
माखन सी पिघलाइ चली जब गाल फुलाइ सुनार ने फूँकी॥

ऐसे ही, किसी दाता ने किसी कविराज पर बहुत प्रसन्न होकर उसे बहुत ही क्षीणकाय घोड़ा दिया। उस पर उनकी यह उक्ति भी हास्य-रस की अभिव्यक्ति करने में समर्थ है:—

घोड़ा गिर्‌यो घर-बाहर ही, महाराज कछू उठवावन पाऊँ।
होय कहारन को जो पै आयसु डोली चढ़ाय इहाँ तक लाऊँ॥
एँड़ार[2] गिर्‌यो बिच पैंड़ोइ माहँ[3], चलै पग एक ना कैसे चलाऊँ।
जीन धरौं, कि धरौं तुलसी मुँह दैंड लगाम कि राम कहाऊँ?

इसी तरह एक दाता की दी हुई बहुत ही पतली रजाई पर 'बेनी' कबि की इस उक्ति में भी हास्य-रस है:—

कारीगर कोऊ करामात कै बनाइ लायो,
लीन्हो दाम थोरो जानि नई सुघरई है।

---

१ चवन्नी। २ तिरछा। ३ रास्ता में।

रायजू ने रामजू रजाई दीन्ही राजी ह्वैकै¹
सहर मे ठौर-ठौर सोहरत भई है ॥
'बेनी कवि' पाइकै, अघाइ रहे घरी द्वैके,
कसत न बनै कछू ऐसी मति ठई है।
माँस लेत उडिगो उपल्ला² औ भितल्ला³ सबै,
दिन द्वै के बाती हेत रुई रहि गई है ॥

करुण रस

प्रिय व्यक्ति या इष्ट वस्तु का नाश और अप्रिय व्यक्ति, या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा प्रिय के प्राप्त होने की आशा का अभाव होने से हृदय को जो क्षोभ वा क्लेश होता है उस भाव को 'शोक' कहते हैं। यही 'शोक' स्थायी जब रसत्व को प्राप्त हो जाता है तब वह करुण रस कहलाता है।

सूचना—वियोग (विप्रलम्भ) शृङ्गार मे भी आश्रय की प्राय: वही दशा होती है जो करुण मे होती है। अन्तर यह होता है कि वियोग में आलम्बन के फिर से मिलने की आशा बनी रहती है, लेकिन करुण में ऐसा नहीं होता।

करुण रस का

स्थायी भाव—शोक है.

आलम्बन (विभाव)—विनष्ट प्रियतम, बन्धु, ऐश्वर्य आदि होते हैं,

उद्दीपन (विभाव)—उनका दाहकर्म, उनसे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुएँ, घर, वस्त्र, भूषण, उनकी कथा इत्यादि हैं

अनुभाव—दैव-निन्दा, भाग्य का कोसना, भूमि पर पछाड़ खाकर गिरना, रोना, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ, प्रलाप, विवर्णता इत्यादि हैं,

सञ्चारी—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम,

---

१ होकर। २ ऊपर की खोल। ३ अस्तर।

विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता, दैन्य आदि है।

श्रीरामचन्द्र ने अयोध्या-वासियों के अपवाद के कारण सीता को त्याग दिया था। उस समय वे गर्भिणी थीं। राम समझते थे कि 'वन-बीच काऊ रजनीचर नीच ने सुन्दरी सोई विनासि कै डारी'। इस धारणा के कारण उन्हें अपनी प्रियतमा के फिर से मिलने की आशा न रह गयी थी। कुछ समय के पश्चात् वे शम्बूक का वध करने के लिए पञ्चवटी गये। वहां अपने चौदह वर्ष वाले वनवास के समय की सखी वासन्ती से मिले। वासन्ती ने राम को उस लता-मण्डप की सुधि दिलायी जिसमें खड़े होकर उन्होंने एकबार गोदावरी में स्नानार्थ गयी हुई सीता की प्रतीक्षा की थी। उस समय नदी में हंसों की क्रीड़ा देखने में विलम्ब हो जाने से सीता जब राम के पास कुछ देर बाद, पहुँची तब उनके मलीन मुख को देख कर उन्होंने अपने कर-कमल जोड़कर प्रियतम से क्षमा माँगी थी—

याही लता-गृह तुम प्रिया की बाट हेरी, जो घनी
गोदावरी-तट निरखि हंसनि, ठिठक रहि कौतुक-सनी।
आवत कछुक तुव मलिन मुख लखि, जीय कातर मैथिली
जोरी जुगल कर कलित कोमल कमल-कुड्मल[१] अंजली।

यह सुनने पर राम को अपने जीवन की एक अत्यन्त सुखद घटना स्मरण हो आयी। साथ ही सीता के अभाव के कारण उनके मुख से ये शब्द निकल पड़े—

हा! हा! प्यारी फटत हृदय यह, जगत सून्य दरसावै।
तन-बन्धन सब भये सिथिल-से, अन्तर-ज्वाल[२] जरावै।
तो बिनु जनु बूड़त जिय तम में छिन-छिन धीरज छीजै।
मोहावृत सब ओर राम यह मंद-भाग्य का कीजै!

यहाँ श्रीराम आश्रय हैं और सीता—आलम्बन विभाव है। पञ्चवटी

---

१ खिलती हुई कली। २ हृदय की वेदना की आग।

का (वह) लता मण्डप (जहाँ राम ने सीता की एक बार प्रतीक्षा की थी)—उद्दीपन विभाव है राम का यह प्रलाप करना कि 'हे प्यारी (तुम्हारे बिना) यह मेरा हृदय फट रहा है, संसार सूना दिखाई पड़ता है, शरीर के बन्धन शिथिल से हो रहे हैं, हृदय की ज्वाला जल रही है, जी अन्धेरे में डूबता-सा है, धैर्य छूट रहा है, मैं मोह से घिर रहा हूँ', तथा उनका 'मन्द भाग्य का कीजै' कहकर दैव या भाग्य की निन्दा करना, साथ ही मुर्च्छित होना—ये सब अनुभाव हैं। लता-गृह तथा उसमें राम का सीता की प्रतीक्षा करना और सीता का आकार क्षमा-याचनार्थ उनके हाथ जोड़ना—इन व्यापारों के स्मरण आने पर राम के शोक का वेग बढ़ा। यह 'स्मृति' सञ्चारी है। राम का अपने को अभागा कह कर कोसने में 'दैन्य' सञ्चारी है। 'मोहावृत सब ओर राम यह'—में 'मोह' सञ्चारी है।

इस प्रकार रस के सभी अंग—(आलम्बन, उद्दीपन) विभाव, अनुभाव और सञ्चारी यहाँ विद्यमान हैं। इनके संयोग से 'शोक' स्थायी पुष्ट होकर करुणरसत्व को प्राप्त हुआ।

ऐसे ही, भरत के अपने ननिहाल से लौटकर अयोध्या पहुँचकर अपनी माँ कैकेयी से पूछने पर कि

कहँ कहँ तात[१], कहाँ सब माता ? कहँ सिय रामु लषन प्रिय भ्राता ?
सुनि सुत बचन, सनेहमय,कपट नीर भरि नैन।
भरत श्रवन मन सलसूम पापिनि बोली बैन ॥
तात बात मैं सकल सवाँरी, भइ मँथरा सहाय विचारी।
कछुक काज विधि बीच बिगारेउ. भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ ॥
सुनत भरत भय बिबस बिषादा, जनु सहमेउ करि[२] केहरि[३] नादा।
तात! तात! हा तात! पुकारी, परे भूमि-तल व्याकुल भारी।
चलत न देखन पायउँ तोही, तात, न रामहि सौंपेहु मोही ॥

---

[१] पिता ('दशरथ' से तात्पर्य है)। [२] हाथी [३] सिंह

यहाँ भरत आश्रय है। उनके हृदय में अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर 'शोक' स्थायी उत्पन्न हुआ। तात अर्थात दशरथ, आलम्बन विभाव है; 'भूपति सुरपति-पुर पगु धारेउ'—इस समाचार की सूचना—उद्दीपन विभाव है। भरत का 'तात ! तात ! हा !' पुकारना, व्याकुल होकर भूमि-तल पर गिरना एवं यह प्रलाप कि 'चलत न देखन पायउँ तोही' और 'तात' न रामहिं सौंपेहु मोही'—ये अनुभाव है। 'भूमि तल पर व्याकुल होकर पतित होने' में अपस्मार सञ्चारी, 'भय विवस विषादा' (सुनते ही विषाद के वश हो गये)—में विषाद सञ्चारी तथा पिता की मृत्यु का समाचार सुनते ही भरत का तुरन्त डर जाना और 'चलत न देखन पायउँ तोही, तात, न रामहिं सौंपेहु मोही' कहा तथा तात ! तात ! हा तात ! कह कर चिल्लाना—इनसे आवेग सञ्चारी प्रकट होता है।

इस अवतरण मे प्रिय (पिता) की मृत्यु के कारण उसके फिर से मिलन की पूरी निराशा से उत्पन्न स्थायी भाव 'शोक' विभाव, अनुभाव और सञ्चारी की सहायता से करुण-रस का परिपाक करने में समर्थ हुआ।

रौद्र रस

किसी शत्रु, विपक्षी, अहितकारी या अशिष्ट की चेष्टाओं और कार्यों से तथा अपने अपमान, अहित एवं बड़ों की निन्दा, अवहेलना आदि के कारण हृदय मे 'क्रोध' उत्पन्न होता है। इस 'क्रोध का अनुभव पाठक या श्रोता को किसी अन्यायी, अत्याचारी या अनिष्टकारी के प्रति कहे गये वचनों तथा की गयी चेष्टाओं की व्यञ्जना से होता है। यही क्रोध स्थायी विभावादि से संयुक्त होने पर रौद्र-रस सञ्ज्ञक होता है।

रौद्ररस का

स्थायी भाव—क्रोध होता है;

आलम्बन विभाव—शत्रु, विपक्षी, अविनीत व्यक्ति, जाति समाज, देश आदि का द्रोही, कपटी, दुराचारी आदि होता है।

उद्दीपन विभाव—उक्त आलम्बनों के किये हुए अपराध, कार्य, घमण्ड से भरे हुए कथन; उनकी धूर्त्तता, कूटनीति आदि हैं।

अनुभाव—नेत्रों का लाल होना, भौंहो का तनना, दाँत और होठों का चबाना, क्रूर-दृष्टि से देखना, नथनो का फड़कना, भुजाओं का चलाना, कड़ी-कड़ी बातों का कथन, अपने पुरुपार्थ का उल्लेख, गरजना, तड़पना, रोमांच, स्वेद, शस्त्रों का उठाना, उनका प्रहार के लिए तानना आदि है।

सचारी—अमर्प, मोह, मद, उग्रता, स्मृति, क्रूरता, आवेग, गर्व, चपलता आदि हैं।

विशेप—नेत्र, मुख आदि का लाल होना इसी रस मे होता है। वीर रस में (जिसका वर्णन आगे किया जायगा) नही। रौद्र रस मे क्रोध उमड़ता है किन्तु वीर में उत्साह उत्पन्न होता है। रौद्र और वीर रस का यह भेद ध्यान मे रखना चाहिए।

[जब शिव के धनुप (पिनाक) मे प्रत्यञ्चा चढ़ाते समय राम से वह टूट गया तब उसके टूटने की ध्वनि दूर-दूर तक फैली।]

तेहि अवसर सुनि सिव धनु भंगा, आये भृगु-कुल-कमल-पतगा १।
देखत भृगुपति-वेस कराला, उठे सकल भय विकल भुआला ॥
पितु समेत कहि निज निज नामा, लगे करन सब दंड-प्रनामा।

\+ \+ \+

बहुरि विलोकि विदेह सन, "कहहु काह अति भीर ?"
पूछत जान अजान जिमि २ व्यापेउ कोप सरीर ॥

१भृगुनामक ऋपि के वंश रूपी कमल को विकसित करने वाले सूर्य, अर्थात् परशुराम।

२सब कुछ जानते हुए भी कि वहाँ राजाओं तथा अन्य लोगो की भीड़ किस लिए एकत्र हुई थी, वे अज्ञान से बने, अर्थात उन्होंने ऐसा प्रकट किया मानों उस विपय में कुछ भी नहीं जानते थे।

समाचार कहि जनक सुनाये, जेहि कारन महीप सब आये
सुनत वचन, फिरि अनत निहारे, देखे चापखंड महि डारे ॥
अति रिसि बोले वचन कठोरा, "कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा ?"
वेगि दिखाउ, मूढ़, न तु आजू, उलटौं महि जहँ लगि तव राजू"

यहाँ परशुराम आश्रय हैं। अपने गुरू के धनुष तोडे जाने के कारण उनके हृदय में 'क्रोध' स्थायी का सञ्चार हुआ। शिव के धनुष को तोड़ने वाला व्यक्ति आलंबन है। धनुष के टूटे हुए खण्ड, जो मही (पृथ्वी) पर पड़े हुए थे उद्दीपन विभाव है। परशुराम के कठोर वचन अनुभाव हैं। उन वचनों की कठोरता में उग्रता सञ्चारी है। परशुराम के इस विचार में कि मैं जनक के राज्य भर की भूमि उलट सकता हूँ—'गर्व' सञ्चारी है; (भूमि पर रहने वाले निरपराध जीवों के कष्ट का विचार किए बिना) राज्य को पलट देने में 'क्रूरता' और वेगि दिखाउ, न तु आजू, पलटौं महि जहँ लगि तव राजू, में (चपलता) सञ्चारी है।

इस प्रकार यहाँ क्रोध स्थायी की विभाव, अनुभाव और सञ्चारी से पुष्टि हुई। अतः रौद्र रस की सिद्धि हुई।

एक और उदाहरण लीजिए। सीता-स्वयंवर में धनुष को उठाने में जब सभी राजा असमर्थ रहे तब

नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने, बोले बचन रोष जनु साने।
"दीप दीप के भूपति नाना, आये सुनि हम जो पन ठाना ॥

कुँअरि मनोहरि, बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु-दमनीय ॥

कहहु काहि यह लाभ न भावा, काहु न संकर-चाप चढ़ावा।
रहेउ चढ़ाउब तोरब भाई, तिल भर भूमि न सके छुड़ाई ॥
अब जनि कोउ माखै भट मानी, बीर-बिहीन मही मैं जानी।"

जनक वचन सुनि सब नर नारी, देखि जानकिहि भये दुखारी।
माखे लखन, कुटिल भइ भौंहें, रद-पट[1] फरकत, नयन रिसौंहें॥
कहि न सकत रघुबीर-डर-लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद-कमल सिर, बोले गिरा प्रमान॥
"रघुबंसिन महँ जहँ कोउ होई, तेहि समाज अस कहै न कोई।
सुनहु भानुकुल-पंकज भानू, कहौं सुभाउ, न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हार अनुसासन पाऊँ, कन्दुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ।
काँचे घट जिमि डारौं फोरी' सकौं मेरु मूलक इव तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना' का बापुरो पिनाक पुराना!
तोरौं छत्रक-दंड जिमि, तव प्रताप-बल नाथ।
सो न करौं प्रभु-पद-सपथ, कर न धरौं धनु हाथ॥"

यहाँ लक्ष्मण आश्रय हैं। इनका क्रोध 'स्थायी' भाव है। जनक आलंबन हैं। जनक का यह कहना कि 'बीर विहीन मही मैं जानी' इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं। आश्रय—(लक्ष्मण) की भौंहों का टेढ़ा होना, उनके ओठों का फड़कना, नेत्रों का 'रिसौंहें' (क्रोधपूर्ण) होना तथा यह कहना कि 'हे श्रीराम, आपको आज्ञा पाने पर इस पुराने (जीर्ण-शीर्ण) धनुष को मैं छत्रक (कुकुरमुत्ता) के डंठल की तरह बिना प्रयास ही) तोड़ सकता हूँ' = अनुभाव हैं 'कुटिल भइ भौंहें, रदपट फरकत' आदि में अमर्ष, 'कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ, काँचे घट जिमि डारौं फोरी, सकौं मेरु मूलक इव तोरी, में उग्रता और 'पिनाक को छत्रक दंड जिमि तोरौं मे गर्व सञ्चारी हैं।

इस तरह विभाव, अनुभाव और सञ्चारी के सम्यक् पुष्ट क्रोध स्थायी 'रौद्ररस' के रूप में व्यक्त हुआ।

वीर रस

शत्रु का उत्कर्ष, दीनों की दुर्दशा, धर्म की दुर्गति को मिटाने, अर्थात्

---

[1] ओंठ।

किसी विकट या दुष्कर कार्य के करने का जो तीव्र भाव हृदय में उत्पन्न होता है उसे 'उत्साह' कहते हैं। इसी उत्साह नामक स्थायी भाव की पुष्टि होने पर 'वीर रस' की सिद्धि होती है।१

दुष्कर कार्य करने वाले सभी वीर होते हैं। अतः सत्यवक्ता, त्यागी, असाधारण कर्मकर्त्ता, उद्भट विद्वान्, वैज्ञानिक-तत्ववेत्ता आदि भी वीर ही हैं; परन्तु साहित्य-शास्त्रियों ने (१) युद्धवीर, (२) दयावीर, (३) दानवीर, और (४) धर्मवीर—ये ही चार प्रकार के 'वीर' माने हैं। उन्होंने इनमें ही रसत्व का सञ्चार माना है।

वीर रस का

स्थायी भाव—'उत्साह' है।

युद्ध-वीर में शत्रु-नाश का, दया-वीर में दया-पात्र के कष्ट-नाश का, दान-वीर में त्याग का और धर्म वीर से अधर्म-नाश तथा धर्म-संस्थापन का 'उत्साह' होता है।

(१) युद्ध-वीर में

आलम्बन (विभाव)—शत्रु, या वह होता है जिसे जीतना हो।

उद्दीपन (विभाव)—आलम्बन की चेष्टाएँ—गर्जन, तर्जन, ललकार

१साधारणतया वीर रस रौद्र के समान ही जान पड़ता है। परन्तु है यह उससे नितान्त भिन्न। क्रोध प्रायः अपने से कम बल वाले पर किया जाता है, परन्तु ऐसे व्यक्ति पर शूरता दिखाने का उत्साह नहीं होता। क्रोध क्षणिक होता है, उसका सम्बन्ध वर्त्तमान समय तक ही सीमित रहता है; किन्तु उत्साह अधिक समय तक स्थिर रहता है। और उसका सम्बन्ध भविष्यत् की बातों से भी रहता है। क्रोध प्रायः स्वयं अपनी शक्ति की प्रशंसामात्र बहुत बढ़ा-चढ़ाकर की जाती है, परन्तु उत्साह में ऐसा न करके उस शक्ति का प्रदर्शन कार्यों के द्वारा किया जाता है। अस्तु, क्रोध में चपलता रहती और उत्साह में धीरता

आदि एवं सेना, जुझाऊ बाजे, सेना का कोलाहल, शत्रु या विपक्षी के प्रताप, उत्कर्ष आदि का श्रवण इत्यादि है।

अनुभाव—आँख फड़कना, अस्त्र शस्त्र का प्रयोग करना, अपने पराक्रम का बखान करना, युद्ध के विविध व्यापार, जैसे आक्रमण भिड़न्त आदि हैं।

सञ्चारी—वितर्क, स्मृति, धृति, रोमाञ्च, हर्ष, गर्व, औत्सुक्य उग्रता आदि हैं।

सौमित्रि से घननाद का रव अल्प भी न सहा गया।
जिन शत्रु को देखे बिना उनसे तनिक न रहा गया॥
रघुवीर का आदेश ले युद्धार्थ वे सजने लगे।
रणवाद्य भी निर्घोष करके धूम से बजने लगे॥
सानन्द लड़ने के लिए तैयार जल्दी हो गये।
उठने लगे उनके हृदय में युद्ध-भाव नये-नये॥

यहाँ सौमित्र—लक्ष्मण—आश्रय हैं। उनके हृदय में अपने शत्रु (घननाद) से लड़ने का 'उत्साह' स्थायी भाव है घननाद (मेघनाद) आलम्बन है मेघनाद का 'रव' (गर्जन), आलम्बनगत उद्दीपन विभाव है तथा रणवाद्य का धूम से निर्घोष आलम्बन से बहिर्गत उद्दीपन। लक्ष्मण का युद्धार्थ सजना, उनके हृदय में युद्ध भावों का उत्पन्न होना अनुभाव हैं। 'घननाद का रव अल्प भी न सहना' में 'अमर्ष' 'युद्धार्थ सजना और जल्दी तैयार होना तथा शत्रु को देखे बिना न रहा जाना में 'औत्सुक्य, तथा 'सानन्द लड़ने के लिए तैयार होना, में 'हर्ष, सञ्चारी हैं। अतः यहाँ रस-सिद्धि की पूरी सामग्री होने से (युद्ध) वीर रस हुआ।

ऐसे ही, नीचे लिखे छन्द में, वात-जात (पवनकुमार हनुमान) आश्रय हैं। उनके हृदय में जातुधान जूथपों (राक्षसों के सेना-नायकों) के मारने का 'उत्साह, स्थायी भाव है। यातुधान यूथपति—आलंबन हैं। उन (आलंबनों) का युद्ध करने के लिए रणक्षेत्र में उपस्थित होना उद्दीपन है। हनुमान का राक्षसों को दबोचना, समुद्र में डुबाना, जमीन

में दबा देना, अकाश में फेंक देना, पछाड़ना, उनके पैर उखाड़ना, उन को फाड़ डालना, मार डालना आदि अनुभाव है। उग्रता, धृति और चपलता संचारी हैं। इससे इसमें भी वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

> दबकि दबोरे एक १, वारिधि में बोरे एक,
> मगन मही में एक, गगन उड़ात हैं।
> पकरि पछारे कर, चरन उखारे एक,
> चीरि फारि डारे, एक मींजि मारे लात हैं।
> तुलसी लखत राम, रावन, विबुध२ विधि३,
> चक्रपानि,४ चंडीपति,५ चंडिका६ सिहात७ है।
> बड़े बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
> जातुधान जूथप निपाते बातजात हैं।

(२) दयावीर में

आलम्बन (विभाव)—दीन, आर्त, दुखी व्यक्ति, या व्यक्ति-समूह होता है,

उद्दीपन (विभाव)—आलम्बन का कराहना, रोना, चिल्लाना, दुखकथन, प्रार्थना करना, दुष्टों, आततायियों इत्यादि का उन्हें दुख पहुंचाना आदि है।

अनुभाव—(आश्रय के) मीठे शब्द, आश्वासन-वाक्य, तथा आलम्बन के कष्ट को दूर करने के कार्य आदि है।

संचारी—पुलक, चपलता, धृति, उत्कण्ठा आदि हैं।

> जै जै महराज जदुराज द्विजराज एक
> सुन्दर सुदामा राजद्वार आज आये हैं।

---

१ हम लोगों को। २ देवता। ३ ब्रह्मा। ४ विष्णु। ५ शिव। ६ पार्वती। ७ प्रशंसा करते हैं।

कहै रतनाकर प्रगट ही दरिद्र रूप
फटही लँगोटी बाँधि बाव सौं लगाये हैं।
छीनता की छाप दीनता की थाप धरे देह
लाठी के सहारें लाठी नीठि ठहराये हैं।
सकुचित कंध पै अधौटी सी कँधौटी किये
तापर सछिद्र छोटी लोटी लटकाये हैं।
दीन हीन सुहृद सुदामा की अवाई सुनें
दीनबन्धु दहलि दया सौं मया-पागे[१] हैं।
कहै रतनाकर सपदि अकुलाइ उठे
भाइ गुरु गेह के सनेह-जुत जागे हैं[२]।
आइ पौंरि दौरि, देखि दृगन अलेख दसा
धीर त्यागि और हू बिसेष दुख दागे हैं।
वे[३] तौ करुना मौं छकि छिन अगुवाने नाहिं[४]
जानि ये[५] पिछाने[६] नाहिं पलटन लागे हैं।

यहाँ यदुराज—श्रीकृष्ण—आश्रय हैं। सुदामा—आलम्बन। सुदामा की दरिद्र दशा—फटी लँगोटी, चीणता दीनता, फूटी लुटया आदि—का पहले उल्लेख और फिर उसका प्रत्यक्ष दर्शन उद्दीपन विभाव हैं। श्रीकृष्ण का सपदि (शीघ्र) अकुलाकर उठना, उनके हृदय में गुरु-गृह में रहते समय के भावों का उदय, उनका धैर्य त्याग कर दुखी होना, तथा द्वार पर पहुँचकर जहा का तहाँ खड़ा रह जाना—ये अनुभाव हैं। 'गुरु गह के भाव जागने' मे स्मरण, 'अकुलाइ उठे' मे उत्कण्ठा, 'अगुवाने नाहिं' में मोह'—सञ्चारी हैं। इस प्रकार यहाँ दीनबन्धु का दया से दहलने का स्थायी

---

[१]प्रेम से युक्त। [२]गुरु (सदीपन) के यहा (विद्याध्ययन के निमित्त) रहते समय प्रेम-भाव उनके हृदय मे जगे। [३]कृष्ण (से तात्पर्य है)। [४]आगे नहीं बढ़े। [५] सुदामा (से तात्पर्य है)। [६]पहचाने।

भाव विभाव, अनुभाव और सञ्चारी मे पुष्ट होकर (दया) वीर रस की पुष्टि करने मे समर्थ हुआ।

(३) दानवीर मे

आलम्बन (विभाव)—दान-पात्र, याचक होता है;

उद्दीपन (विभाव)—दान-पात्र की सत्पात्रता, आश्रय की अपने कर्त्तव्य का ज्ञान, यश या नाम की इच्छा, तीर्थ-स्थान साधु-समागम आदि हैं;

अनुभाव—दान-पात्र और याचक का सम्मान, चेहरे पर मुसकराहट, अपनी शक्ति के अनुसार जी खोलकर दान देना, उदारता-प्रदर्शन आदि हैं;

सञ्चारी—हर्ष, धैर्य, स्मरण आदि है।

भामिनि, देहुँ द्विजै सब लोक तजो हठ मोरे यहै मन भाई।
लोक चतुर्दस की सुख संपति लागति विप्र बिना दुखदाई॥
जाइ बसौं उनके गृह मैं करिहौं द्विज-दंपति की सेवकाई।
तो मन माहि रुचै न रुचै सो रुचै हमैं तो वह ठौर सदाई॥

(यह श्रीकृष्ण की रुक्मिणी के प्रति उस समय की उक्ति है जिस समय वे सुदामा को दो मुट्ठी चावलों के बदले दो लोकों का राज्य देना मन मे निश्चय कर चुके और तीसरी मुट्ठी चावल चबाकर तीसरे लोक का भी दान देने जा रहे थे।) यहाँ श्रीकृष्ण आश्रय हैं। द्विज (सुदामा) आलंबन है। उनकी दशा, जिसके कारण श्रीकृष्ण दयार्द्र हुए थे, उद्दीपन है। श्रीकृष्ण का यह कथन कि 'चौदहों लोकों की सम्पत्ति विप्र सुदामा के न होने पर मुझे दुखदायक है। मैं अब जाकर ब्राह्मण और ब्राह्मणी की सेवा करूँगा। तुम्हें चाहे भले पसन्द न आवे। मुझे तो वह ठौर सदा रुचिकर है'—अनुभाव है। धैर्य, मति सञ्चारी हैं। इन विभाव, अनुभाव और सञ्चारी के संयोग से (दान) वीर रस की सिद्धि हुई।

(४) धर्मवीर में

आलम्बन (विभाव) वेद-शास्त्र के वचनों पर विश्वास, धर्म के प्रति निष्ठा आदि हैं;

उद्दीपन (विभाव)—धर्म-ग्रन्थों का पठन या श्रवण, गुरु के उपदेश, धर्म कार्य से उपलब्ध साधुवाद, धर्म-कार्य का फल आदि हैं,

अनुभाव—धर्मानुकूल आचरण, धर्म-रक्षा और अधर्म-नाश के उपाय आदि हैं;

सञ्चारी—हर्ष, धैर्य, क्षमा आदि हैं।

आजु हैं टेक धरी मन माहिं न छाड़िहौं याहि करौ बहुतेरो।
धाक यही है युधिष्ठिर की धन-धाम तजौं पै न बोलन फेरो॥
मातु सहोदर औ' सुत नारि जु सत्य बिना तिहिं होय न केरौ॥
हाथी तुरंगम औ' बसुधा बस जीवहु धर्म के काज है मेरौ॥

यहाँ युधिष्ठिर—आश्रय हैं। उनका सत्य तथा धर्म के कार्य पर विश्वास—आलंबन है। सत्य और धर्म पर जीवन की सार्थकता समझने का विश्वास—उद्दीपन है। युधिष्ठिर का यह कहना कि मैं धन धाम तजकर भी अपने वचन नहीं लौटाऊँगा और हाथी, घोड़ा भूमि तथा प्राण भी धर्म के लिए है—अनुभाव हैं। तथा 'धर्म ही जीवन का सार है' में 'मति', 'धन धाम तजौं पै न बोलन फेरो' में 'दृढ़ता' संचारी है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव संचारी से पुष्ट होकर (धर्म) वीर रस की सिद्धि हुई।

भयानक रस

किसी भय-प्रद वस्तु का वर्णन, उससे भयभीत व्यक्ति की चेष्टा आदि का उल्लेख जिसमे भय की स्थिरता होती है, भयानक रस को उत्पन्न करता है।

इस रस का

स्थायीभाव—'भय' है।

आलंबन—(विभाव)—कोई भयानक वस्तु (जैसे, सिंहादि जन्तु, चढ़ी हुई नदी, किसी जंगल या गाँव में लगी हुई आग, सुनसान जंगल आदि) चोर, डाकू, बलवान शत्रु इत्यादि हैं,

उद्दीपन—(विभाव)—भयंकर दृश्य, जीव आदि की चेष्टाएँ उनके कार्य, उनकी आहट, चर्चा आदि: ऊँची उठने वाली लहरें, भयप्रद लपटें, नीरवता, जन शून्यता आदि हैं:

अनुभाव—कंप, स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य स्वर-भंग, पलायन, मूर्च्छा, इधर उधर ताकना, भौंचक्का हो जाना आदि है।

संचारी—संभ्रम, आवेग, त्रास, शंका, दैन्य, चिन्ता मृत्यु आदि हैं।

नीचे भयानक रस का उदाहरण दिया जाता है—

एक दिन श्रीकृष्ण गायें चराने गये थे। दोपहर में जंगल में विश्राम कर रहे थे। वे अचानक भयंकर चीख सुनकर चौंक पड़े। उन्होंने सामने देखा कि

प्रचालिता उद्धत तीव्र वायु से,
विवर्द्धिता हो करते महास्थिता।
नितान्त ही थी बनती भयंकरी
प्रचंड दावा प्रलयंकरी समा॥
अपार पक्षी पशु त्रस्त हो महा,
सशंकमना थे सब ओर भागते
नितान्त ही भीत सरीसृपादि भी,
बने महा व्याकुल हो पला रहे॥
पला रहे थे उनको विलोक के,
असंख्य प्राणी वन में इतस्ततः।

गिरे हुए थे महि में अचेत हो
समीप के गोप स-धेनु मण्डली ॥

यहाँ वन और दावाग्नि आलंबन विभाव है। विघूर्णिता (चक्कर खाती हुई और कंपित). ऊँची उठती हुई (समुत्थिता) लपटें— उद्दीपन विभाव हैं। पशु, पक्षी, सरीसृपादि, असंख्य प्राणी आदि का इतस्तत गिरना—ये अनुभाव है। 'व्यग्रता से भागना'—में 'आवेग', अचेत होकर गिरना—में 'मूर्च्छा' 'महात्रस्त होना'—में 'त्रास' सचारी है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी की सहायता स्थायी भय पुष्ट होकर भयानक रस हुआ।

वीभत्स रस

घृणा उत्पन्न करने वाली वस्तुओं—जैसे पीव, हड्डी, चर्बी, माँस,—इन सबके सड़ने से उत्पन्न दुर्गन्ध, आदि के वर्णन में हृदय में जो ग्लानि होती है उसी मे वीभत्स रस का जन्म होता है।

सूचना—इस रस मे केवल आलंबनों का वर्णन यथेष्ट हुआ करता है। नाक सिकोड़ना, थूकना आदि आश्रय के अनुभावों का या संचारियों का वर्णन आवश्यक नहीं होता।

वीभत्स रस का

स्थायी भाव—जुगुप्सा या घृणा है। जैसे अघोरी, दुर्गन्धयुक्त मुर्दा आदि·

आलंबन—(विभाव) घृणास्पद सभी वस्तुएं या व्यक्ति है

उद्दीपन—(विभाव) उनकी दुर्गन्ध, चेष्टाएं, उनमें कीड़ो का पड़ना, उन पर मक्खियों का भिनभिनाना आदि है·

अनुभाव—नाक सिकोड़ना, थूकना, मुँह फेर लेना, आँख मींचना, रोमाञ्च आदि है:

सचारी—मूर्च्छा, मोह, आवेग, अपस्मार, व्याधि आदि हैं।

नीचे वीभत्स रस का एक उदाहरण दिया जाता है :—

कहुँ सुलगत कोउ चिता, कहूँ कोउ जात बुझाई ।
एक लगाई जाति, एक एक की राख बहाई ॥
विविध रंग की उठत ज्वाल, दुर्गन्धनि महकति ।
कहुँ चरबी सौं चटचटाति कहुँ दह दह दहकति ॥
कहुँ सृगाल कोउ मृतक-अंग पर घात लगावत ।
कहुँ कोउ सव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत ॥
जहँ तहँ मज्जा, मांस रुधिर लखि परत बगारे ।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे ॥
लखत भूप यह साज मनहिं मन करत गुनावन ।
'पर्‌यो हाय ! आजन्म करन यह कर्म घिनावन' ॥

यहाँ स्मशान की भूमि आलंबन विभाव है । चिता का जलना, बुझना, दुर्गन्ध से युक्त लपट, चरबी से शव का चटचटाना, मुर्दों की ओर सियार का ताकना, उसपर गिद्ध का चोंच मारना, फैली हुई मज्जा, मांस, रक्त आदि ये सब उद्दीपन विभाव हैं । 'पर्‌यो हाय ! आजन्म करन यह कर्म घिनावन'—राजा (हरिश्चन्द्र) का यह कथन अनुभाव है । इस कथन से जो विषाद सूचित होता है वही 'विषाद' संचारी है । इस तरह विभाव, अनुभाव और सञ्चारी से स्थायी जुगुप्सा (घृणा) की पुष्टि हुई और यहाँ वीभत्स रस हुआ ।

अद्‌भुत रस

किसी असाधारण वस्तु को देखकर हमारे हृदय में विशेष प्रकार का कुतूहल होता है । हम उसके निर्माता के विषय में सोचते-सोचते मुग्ध हो जाते हैं । यदि यही 'आश्चर्य' का भाव किसी वर्णन में हो तो उसमें अद्‌भुत रस का संचार होता है ।

प्राय: इस रस में भी आलम्बन का वर्णन पर्याप्त होता है, आश्रय के अनुभाव आदि के वर्णन की आवश्यकता नहीं होती ।

अद्भुत रस का
स्थायी भाव—विस्मय या आश्चर्य होना है,

आलम्बन (विभाव)—अलौकिक वस्तु, असम्भव व्यापार, असाधारण या लोकोत्तर कार्य-कलाप, विचित्र-दृश्य, आश्चर्यजनक व्यक्ति आदि होते हैं,

उद्दीपन (विभाव)—उक्त आलम्बनों का देखना या वर्णन सुनना, उनकी महिमा का निरूपण आदि होते हैं,

अनुभाव—मुँह खोल कर रह जाना, दाँतों तले उँगली दबाना, दाँतों तले जीभ दबाना, रोंगटे खड़े होना, आँखें फाड़कर देखते रह जाना, स्वर-भंग, स्वेद, स्तम्भ आदि होते हैं,

सञ्चारी—वितर्क भ्रान्ति, हर्ष, आवेग आदि होते है।

नीचे अद्भुत रस के उदाहरण दिये जाते हैं —

(क) नटवर, है अनुपम तव माया।

सकल चराचर एक सूत्र मे तूने बाँध नचाया॥
षट्ऋतु सरस, सूर्य शशि, तारे, भू, गिरि, विपिन बनाया।
नीले-नीले रुचिर गगन मे कैसा रास रचाया॥
कुसुमित वलित ललित लतिकाएँ, सुफल कलितु द्रुम छाया।
रंग-रंग के देख विहंगम अंग-अंग हरषाया॥
जलचर, थलचर, नभचर नाना किसने रूप दिखाया?
तेरी माया, तू ही जाने मुनि-जन-मन अकुलाया॥

इस कविता मे ईश्वर की रची हुई सृष्टि आलम्बन विभाव है। उसके विविध पदार्थ—ऋतु, सूर्य, चन्द्र, तारे, लताएँ, पेड़, पक्षी आदि—उद्दीपन हैं। इन्हीं सबको देखकर कवि के मन मे आश्चर्य का भाव उद्दीप्त होता है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, आलम्बन और उद्दीपन का यह वर्णन मात्र अद्भुत रस का सचार करने मे समर्थ हुआ।

(ख) एक बार जननी अन्हवाये, करि सिंगार पलना पौढ़ाये ।
निज कुल इष्टदेव भगवाना, पूजा हेतु कीन्ह असनाना ।
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा, आपु गई जहँ पाक बनावा ।
बहुरि मातु तहँवा चलि आई, भोजन करत देखि सुत जाई ।
गइ जननी सिसु पहँ भयभीता, देखा बाल तहाँ पुनि सूता ।
बहुरि आइ देखा सुत सोई, हृदय कंप मन धीर न होई ॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा, मति-भ्रम मोर की आन बिसेखा !
देखि राम जननी अकुलानी प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसकानी ॥

देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखंड ।
रोम-रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥

× × ×

तन पुलकित मुख बचन न आवा ।
नयन मुँदि चरनन सिर नावा ॥

यहाँ बालक राम आलम्बन हैं। उनका पालने पर सोते हुए, और पूजा-गृह में नैवेद्य खाते हुए दिखाई पड़ना, उनके मुख में करोड़ों ब्रह्माण्डों का दिखायी पड़ना—ये उद्दीपन विभाव हैं। कौशल्या को भयभीत होना, तन पुलकित (शरीर का रोमांचित) होना, मुख से वचन न निकलना, आँखों का मूँदना, चरणों में शिर झुकाना ये सब अनुभाव है। 'भयभीत' में 'भय', 'हृदय कंप' में 'कंप', 'मतिभ्रम मोर कि, में 'भ्रान्ति', 'अकुलानी' में 'त्रास', 'मुख बचन न आवा' में 'जड़ता' सञ्चारी भाव हैं। इस प्रकार यहाँ विभाव, अनुभाव और सञ्चारी के संयोग से स्थायी 'आश्चर्य', पुष्ट हुआ और इस में अद्‌भुत रस सिद्ध हुआ।

शान्त रस

संसार की असारता, जगत की वस्तुओं की नश्वरता तथा परमात्मा के रूप का ज्ञान होने से चित्त को ऐसी शान्ति मिलती है जो संसार के

विविध सुख के विषयों के सेवन से कभी नहीं मिला करती। इसी प्रकार की शान्ति का वर्णन पाठक या श्रोता के हृदय में शान्त रस की उद्भावना करता है।

शान्त रस का

स्थायी भाव—निर्वेद या संसार के विषयों से जी का हटना या उदासीनता है।

आलम्बन—(विभाव)—परमार्थ होता है।

उद्दीपन—(विभाव) ऋषियों के आश्रम, तीर्थ स्थान, महात्माओं का सत्संग, उनके उपदेश, रमणीय एकान्त स्थान, शास्त्रानु-शीलन शास्त्रों का श्रवण आदि होते हैं।

अनुभाव—रोमांच, पुलक, अश्रुविसर्जन आदि होते हैं।

सञ्चारी—धृति, मति, हर्ष, निर्वेद, स्मरण, विबोध आदि होते हैं।

नीचे शान्त रस का उदाहरण दिया जाता है :—

मन पछितैहै अवसर बीते।

दुर्लभ देह पाइ हरि-पद भजु, करम वचन अरु ही ते।
सहसबाहु, दसवदन आदि नृप बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन-धाम सँवारे अंत चले उठि रीते।
सुत-वनितादि जानि स्वारथ-रत न करु नेह सबही ते।
अन्तहु तोहि तजैंगे पामर, तू न तजै अबही ते।
अब नाथहि अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि 'तुलसी' कहुँ विषय भोग बहु घी ते।

यहाँ सहस्रार्जुन, रावण आदि (बड़े प्रतापी) राजाओं तक का काल से न बचने, स्त्री-पुत्रादि सब के स्वार्थ रत होने आदि का ज्ञान—आलम्बन विभाव है। दुर्लभ नर देह पाकर भी उसे भगवान् के भजन में न लगाना—उद्दीपन है, आश्रय (स्वयं कवि अथवा भक्त) का अपने मन को समझाना

अनुभाव है। 'सांसारिक सम्बन्धी तुम्हें अन्त में त्याग देंगे,ही, इससे तुम उन्हें क्यों नहीं त्याग देते'—में 'मति' और 'जागु जड़' में 'विबोध' सञ्चारी के संयोग से स्थायी 'निर्वेद, के पुष्ट होने पर शांत रस हुआ।

वात्सल्य रस

ऊपर जिन नौ रसों का परिचय दिया जा चुका है वे साहित्य के सभी आचार्यों को मान्य हैं। कुछ लोग उनके अतिरिक्त वात्सल्य रस भी मानते हैं। छोटे-छोटे बच्चों का सौंदर्य' उनकी तोतली बोली, चेष्टाएँ; उनके कार्य-कलाप आदि को देखकर बरबस मन उनकी ओर खिंच जाता है। फलतः हृदय में उनके प्रति जो स्नेह उत्पन्न होता है उसी से वात्सल्य रस की निष्पत्ति होती है।

वात्सल्य के दो पक्ष होते हैं: (१) संयोग और (२) वियोग। जब बालकों की ऐसी बातों का वर्णन होता है जो उनके पिता, माता आदि के पास उपस्थित रहने के काल से सम्बन्ध रखती है तब संयोग वात्सल्य रस होता है। इसके विपरीत, जब बालकों के माता पिता आदि से अलग हो जाने पर उनकी या उनके कारण माँ-बाप की दशा का वर्णन है तब वियोग वात्सल्य होता है।

वात्सल्य रस का

स्थायीभाव—अपत्य (सन्तान) स्नेह होता है;

आलंबन (विभाव) बालक, शिशु होता है;

उद्दीपन (विभाव) उसकी चेष्टाएँ—जैसे, तोतली बोली, गिरते-पड़ते चलना, हठ करना आदि—उसकी शूरता, विद्या, उसकी वस्तुएँ, उसके कार्य इत्यादि होते हैं।

अनुभाव—हँसना, पुलकित होना, तिनके तोड़ना, एकटक देखना, चूमना, गोद में लेना, पालने में झुलाना, बातें कराना, खेलाना रोना, विलाप करना, आह भरना आदि हैं;

सञ्चारी—हर्ष, आवेग, जड़ता, मोह, शंका, चिन्ता, विषाद गर्व उन्माद, स्मृति, औत्सुक्य आदि हैं।

नीचे वात्सल्य के क्रमशः संयोग और वियोग दोनों प्रकारों के उदाहरण दिये जाते हैं:—

(१) नेकु विलोकि धौं रघुवरनि

बाल-भूषण-वसन तन सुन्दर रुचिर रज भरनि
परसपर खेलनि अजिर, उठि चलनि, गिरि गिरि परनि
झुकनि झाँकनि, छाँह सों किलकनि नटनि हठि लरनि
तोतरी बोलनि, विलोकनि मोहनी मन हरनि
सखि वचन सुनि कौसिला लखि सुढर पासे ढरनि।
भरति प्रमुदित अंक सैंनति पैंत जनु दुहुँ करनि

यहाँ पर रघुवर (राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न ये चारों भाई) आलंबन विभाव हैं। उनके भूषण, वस्त्र, धूल से धूसरित सुन्दर शरीर तथा उनका आपस मे खेलना, उठकर चलना' परन्तु, बार-बार गिर पड़ना, झुककर झाँकना' अपनी परछाईं को देखकर (उसे बालक समझकर उससे) किलकारी मारना. नाचना, लड़ना, तोतले वचन बोलना, मोहनी दृष्टि से देखना—ये सब उद्दीपन विभाव हैं। आश्रय (कौशिल्या) का उन्हें अङ्क में भर लेना (गोद मे उठा लेना) अनुभाव है। 'प्रमुदित' में 'हर्ष' सञ्चारी है। इस तरह विभाव, अनुभाव और सञ्चारी से पुष्ट स्थायी 'अपत्य प्रेम' वात्सल्य रस की सिद्धि करने मे समर्थ हुआ।

श्रीकृष्ण के गोकुल से मथुरा चले जाने पर उनके वियोग से व्याकुल यशोदा ने नन्द से कहा—

(२) प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है?
दुख-जलनिधि- डूबी का सहारा कहाँ है?
पल-पल जिसके मैं पंथ को देखती हूँ
निश-दिन जिसके ही ध्यान में हूँ बिताती।

मुखरित करता जो सद्म को था शुकों-सा,
कलरव करता था जो खगों-सा वनों में,
सुध्वनित पिक-लों जो वाटिका था बनाता
वह बहु विधि कंठों का विधाता कहाँ है?
वन वन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों,
शुक भर-भर आँखें गेह को देखता है।
सुधि कर जिसकी है सारिका नित्य रोती,
वह निधि मृदुता का मंजु मोती कहाँ है?
गृह-गृह अकुलातीं गोप की पत्नियाँ हैं,
पथ-पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो।
जिस कुँवर बिना मैं हो रही हूँ अधीरा,
वह खनि सुखमा का स्वच्छ हीरा कहाँ है?
हा शोभा के सदन सम! हा रूप लावण्यवाले!
हा बेटा! हा हृदय-धन! हा नैन तारे हमारे!
हा जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती—
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा!

यहाँ बेटा, प्राण-प्यारा (अर्थात् श्री कृष्ण) आलंबन है श्रीकृष्ण के मधुर शब्दों से रहित सुनासान घर, जङ्गल में खिन्न गायें, आखों में आँसू भरे हुए तोते का घर को देखना, सारिका (मैना) का रोना व्याकुल गोपियों का घर-घर फिरना' उन्मना (उदास) गोपों का मार्ग में चलना—ये सब उद्दीपन विभाव हैं। ('मैं' सर्वनाम से अभिप्रेत) यशोदा का कृष्ण के आगमन का मार्ग देखना, 'हा शोभा के सदन........,इत्यादि शब्दों के द्वारा अपनी व्यथा को प्रकट करना—ये अनुभाव है। 'ध्यान में बिताना,—में 'चिन्ता' कृष्ण के विहीन शून्य घर, व्याकुल देखकर श्रीकृष्ण का स्मरण आने में 'स्मृति' 'हा जिऊगी न अब,—में 'शंका—ये संचारी भाव हैं। इस तरह विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से स्थायी

भाव 'वियोग वात्सल्य' पुष्ट हुआ और इसमें वात्सल्य रस हुआ

रसों का पारस्परिक सम्बन्ध

रसों का विरोध तीन तरह से माना जाता है: (१) कोई रस तो ऐसे हैं जो एक ही 'आलंबन' में होने से विरुद्ध होते हैं, (२) कोई ऐसे होते हैं जो एक ही 'आश्रय' में होने से विरुद्ध होते हैं और (३) कोई एक दूसरे के पीछे, बिना व्यवधान के, आने से विरुद्ध होते हैं। तथा एक आलम्बन में हास्य, रौद्र और वीभत्स रस के साथ संभोग शृङ्गार का तथा वीर, करुण, रौद्र और भयानक के साथ विप्रलंभ शृङ्गार का विरोध होता है। वीर और भयानक रसों का एक ही आश्रय में समावेश करना निषिद्ध है। कारण, निर्भय और निडर उत्साही महापुरुष वीर होता है। यदि उसमें भय आ जाय तो वह वीर कैसे रह सकता है? शान्त और शृङ्गार रस नैरंतर्य से, एक के बाद ही दूसरे के आने से, विरोधी हैं, अर्थात् शान्त और शृङ्गार का एक ही सिलसिले में वर्णन होना ठीक नहीं। उनके बीच में किसी अन्य रस का समावेश हो जाने से दोष नहीं रह जाता।

कुछ रस ऐसे भी हैं जो एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। (१) वीर रस का अद्भुत और रौद्र के साथ उक्त तीनों प्रकार (आलंबन, आश्रय और नैरंतर्य) में किसी तरह से भी विरोध नहीं है। (२) शृङ्गार का अद्भुत के साथ और (३) भयानक का वीभत्स के साथ भी किसी तरह का विरोध नहीं है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विरोधी रसों के असाधारण, अंगों के वर्णन में ही दोष होता है उभय साधारण अंगों के वर्णन में नहीं।

नीचे लिखे अनुसार रस एक साथ नहीं रखे जा सकते—

(१) शृङ्गार का करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक रसों से विरोध है।

(२) हास्य का भयानक और करुण से विरोध है।

(६) करुण का हास्य और शृङ्गार से विरोध है।

(४) रौद्र का हास्य, शृंगार और भयानक से विरोध है।

(५) वीर का भयानक और शान्त से विरोध है।

(६) भयानक का शृंगार, वीर, रौद्र हास्य और शान्त के साथ विरोध है।

(७) वीभत्स का शृङ्गार के साथ विरोध है।

(८) शान्त का वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानक के साथ विरोध है।

अलंकार

'अलङ्कार' शब्द का अर्थ है 'शोभित करने वाला'। इसलिए उस सामग्री को अलङ्कार कहा जाता है जो किसी को शोभित करती हो। चाँदी, सोना, हीरा; नीलम आदि की बनी हुई वस्तुओं को धारण करने से शरीर की शोभा बढ़ जाती है। इसी से इन वस्तुओं—गहनों अथवा भूषणों—को 'अलङ्कार' कहते हैं। इसी प्रकार किसी कथन को रमणीय या रोचक ढङ्ग से कहने से उसकी मनोहरता अधिक हो जाती है। कथन की इस रीति या वर्णन की इस शैली को भी 'अलङ्कार' कहते हैं। इस शैली के प्रयोग करने का निमित्त जहाँ केवल चमत्कार दिखाना या कुतूहल वा अचम्भा उत्पन्न करना होता है, वहाँ उसमें काव्यालङ्कार नहीं माना जाता। इसी से उन धर्मों को अलङ्कार समझा जाता है जो काव्य की शोभा बढ़ाने वाले होते हैं*। अर्थात् वही साधन काव्य में 'अलङ्कार कहलाने के अधिकारी हैं जिनसे उसका उत्कर्ष बढ़ता हो, उसकी सुन्दरता अधिक होती हो। यही बात यों भी कही जा सकती है—'शोभा को बढ़ाने वाले, रस, भाव आदि की उत्कृष्टता को अधिक करने वाले, शब्द और उनके अर्थ के अस्थिर धर्म

---

*काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते (दण्डी—काव्यदर्श, २।१

को अलङ्कार कहते हैं १। इसका तात्पर्य यह है—(१) अलङ्कार से कविता के भाव (अर्थ) और उसके व्यक्त करने के ढग (शब्द)—दोनों का सौन्दर्य बढ़ जाता है, और (२) अलङ्कार काव्य का अस्थिर धर्म है, अर्थात् यह अनिवार्य नहीं कि अलङ्कार के बिना काव्य का अस्तित्व रह ही न सकता हो। इसका अभिप्राय यह है कि यदि (रस, ध्वनि आदि आवश्यक अङ्गों से युक्त होने पर) काव्य अलङ्कार-विहिन भी हो तो विशेष हानि नहीं। परन्तु यदि काव्य का उत्कर्ष बढ़ाने के उद्देश्य से उसमें शब्द और अर्थ सम्बन्धी रोचकता या रमणीयता की सिद्धि हो जाय तो, सोने में सुगन्ध आ जाने के समान, उस पर चार चाँद लग जायँगे, उसकी सुन्दरता अपेक्षा कृत कई गुना बढ़ जायगी। इसी दृष्टि से काव्य की सुषमा की वृद्धि करने के लिए, अलङ्कार की आवश्यकता है।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, किसी कथन की सुन्दरता (१) कभी केवल उसके वाक्यों में आये हुए शब्दों या अक्षरों पर निर्भर रहती है, (२) कभी उन (वाक्यों) में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ पर और (३) कभी शब्दों (के रूप) और उनके द्वारा व्यक्त होने वाले अर्थ दोनों पर।

इस प्रकार अलङ्कार के तीन मुख्य प्रकार हो जाते हैं (१) जिनमें शब्दों अथवा उनके अक्षरों के कारण उक्ति के सौन्दर्य की वृद्धि होती है उन्हें 'शब्दालङ्कार' कहते हैं, (२) जिनमें शब्दों के अर्थ के द्वारा वाक्य का उत्कर्ष अधिक प्रकट होता है उन्हें 'अर्थालङ्कार' कहते हैं, और (३) जिनमें शब्द और अर्थ दोनों पर कथन का सौष्ठव निर्भर रहता है उन्हें 'शब्दार्थालङ्कार' वा 'उभयालङ्कार' कहते है।

रोचकता पूर्ण उक्तियों के कहने के असंख्य प्रकार हैं और ये प्रकार

---

१ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्ते....
(विश्वनाथ कविराज—साहित्य दर्पण १०।१)

सदैव बढ़ते ही जाते हैं। इससे इन सब का वर्णन करना थोड़े से स्थान में नहीं हो सकता; परन्तु यहाँ अलंकारों का साधारण परिचय कराने का विचार है। इससे उनमें से कुछ मुख्य अलंकारों का ही वर्णन किया जायगा।

शब्दालङ्कार

शब्दालंकार में, जैसा इसके नाम से ही प्रकट होता है, कुछ शब्दों के द्वारा वाक्य की सुन्दरता बढ़ती है। यह सुन्दरता कभी (१) एक ही अक्षर के विविध शब्दों में आने से अथवा (२) कभी मुख के एक ही स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों के कई शब्दों में आने से उत्पन्न होती है और (३) कभी एक-से रूप के कुछ शब्दों वा वाक्यों की आवृत्ति से प्राप्त होती है। इसको दूसरी तरह से यों भी कह सकते हैं कि शब्दालंकार वहीं होता है जहाँ किसी शब्द को हटाकर उसके अर्थ वाले दूसरे शब्द के रख देने पर पहले का-सा सौन्दर्य नहीं रह जाता। जैसे—'बादर बुझावत है बीजुरी की आगि नाहीं बीजुरी न मारे बज्र मारे बदरान को'—इस उक्ति में 'ब' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस कारण इनका उच्चारण होने पर कानों को एक-सी ध्वनि कई बार सुनने को मिलती है। यदि 'बादर' के स्थान पर उसका पर्याय 'तोयद' या 'जलद' और 'बीजुरी' की जगह 'दामिनी रखकर इसको इस तरह रूपान्तरित कर दें–'तोयद' बुझावत हैं दामिनी की आगि नाहि, दामिनी न मारे बजमारे जलदान को' तो वह बात न होगी। यदि ऐसा हुआ तो इसमें सजावट या अलंकार का अभाव हो जायगा। इसलिए ऊपर जो अवतरण पहले उद्धृत किया गया है उसमें ही शब्दालंकार माना जायगा।

शब्दालंकारों में (१) अनुप्रास, (२) यमक और (३) श्लेष—ये तीन मुख्य हैं।

अनुप्रास

अनुप्रास अलङ्कार में किसी वाक्य के एक से अधिक शब्दों में 'स्वर'

वर्णों की विषमता रहते हुए भी 'व्यञ्जन' वर्णों की समानता रहती है। अर्थात् यदि वाक्य के अन्तर्गत कुछ शब्दों में आये हुए व्यञ्जन समान हों, उनमें लगे हुए स्वर चाहे समान हों या न हों, तो वहाँ 'अनुप्रास'[1] होगा। जैसे, 'कूलन में केलि में कछनार में कुंजन में क्यारिन में कालन-कलीन किलकंत हैं,—में 'क' व्यञ्जन की अनेक शब्दों में कई बार आवृत्ति हुई है। यद्यपि सब में एक ही स्वर का संयोग नहीं है, फिर भी व्यञ्जन की समता के कारण इस उद्धरण में अनुप्रास अलङ्कार माना जायगा।

अनुप्रास के विषय में दो बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ

(१) व्यञ्जनों की समता के समान ही स्वरों की समता में अनुप्रास अलङ्कार नहीं माना जाता। कारण, समान व्यञ्जनों का उच्चारण सुनने में जैसा अच्छा लगता है वैसा समान स्वरों में नहीं लगता। इस सिद्धान्त के अनुसार 'अलि अलबेली कलियों पर है आज अजब ढंग से आसक्त' में 'अ' की आवृत्ति से अनुप्रास न माना जायगा।

(२) अनुप्रास में व्यञ्जनों की समानता से (१) उनके आकार की समता के साथ ही (२) उनके क्रम की समता भी अभिप्रेत होती है अर्थात् जैसे यह आवश्यक है कि जब शब्दों में एक ही व्यञ्जन बार-बार आये तभी अनुप्रास होगा, वैसे ही यह भी अनिवार्य है कि शब्दों में व्यञ्जनों का स्थान भी सदृश हो। जैसे, 'करुणा-कलित कैसी कला कमिय कोमल क्रान्ति से'—इसमें 'क्' व्यञ्जन जिन जिन शब्दों में आया है उनमें सब का पहला वर्ण है। इसलिए अनुप्रास है।

लेकिन 'नव वन आज जगत् में अनुपम' में यद्यपि पहले दो शब्दों में 'न' और 'व' यही दोनों व्यञ्जन हैं, फिर भी यहाँ इनके कारण अनुप्रास नहीं माना जायगा, क्योंकि ये दोनों वर्ण दोनों शब्दों में एक ही क्रम से प्रयुक्त हुए हैं। इसी तरह 'रस' और 'सर' में 'दास और 'सदा' में, 'नदी' और 'दीन' में,

---

[1] व्यञ्जन सम, बरु स्वर विषम अनुप्रासऽलंकार।

'तम' और 'मत' में, 'हर' और 'रह' में भी वर्णों की अक्रम समता होने के कारण अनुप्रास नहीं माना जा सकता।

अनुप्रास के भेद।

अनुप्रास अलंकार के पाँच भेद१ होते :—(१) छेक (२) वृत्ति, (३) श्रुति, (४) अन्त्य, और (५) लाट।

इसमें से पहले चार—छेक, वृत्ति, श्रुति और अन्त्य—में केवल शब्दों से अन्तर्गत वर्णों की आवृत्ति होती है, परन्तु अन्तिम—लाट—में वाक्य के अन्तर्गत शब्दों वा वाक्यांशों की अवृत्ति होती है।

(१) छेकानुप्रास

छेकानुप्रास में एक अक्षर अथवा अनेक अक्षरों की शब्दों में वार वार आवृत्ति होती है २। इस आवृत्ति में वर्ण चाहे शब्दों के आदि में आये, चाहे अन्त में। जैसे,

(१) इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनि वजती।

में करुणा' और 'कलित' में 'क' तथा 'विकल और 'वजती' में 'व' को आवृत्ति केवल एक बार शब्दों के आदि में हुई है।

(२) अपने ऊपर स्वयं डालकर तम की छाया।

यहाँ 'ऊपर' और 'डालकर' में 'र' की आवृत्ति भी एक ही वार शब्दों के अन्त में हुई है।

(३) हैं सरोज सरसी में फूले।

यहाँ 'सरोज' और 'सरसी में 'स र'—इन दो वर्णों की आवृत्ति

---

१ छेक, वृत्ति 'श्रति' लाट अरु अन्त्य—पाँच विस्तार।
२ वर्न अनेक कि एक की आवृत्ति एकै वार।
सो छेकानुप्रास है आदि अंत निरधार॥

एक ही वार शब्दों के आदि में हुई है।

(४) ज्योतिर्मयी विकसिता हसिता लताएं

इसमें 'विकसिता' और हसिता' 'सि, ता'—इन दो वर्णों की आवृत्ति एक वार, किन्तु अन्त में हुई है।

नीचे दिये हुए अवतरणों में छेकानुप्रास है—

(क) एक वर्ण की शब्दों के आदि में आवृत्ति

(१) शीतल समीर आता है, कर पावन परस तुम्हारा।

(२) छिप गया कहाँ छूकर वे, मलयज की मृदुल हिलोरें?

(३) गिर गया मेरा मनोहर सुख सदन

(४) सुमन सुरभित वन-वीथी

(५) उत्ताल जलधि-वेला में अपने सिर शैल उठाये
निस्तब्ध गगन के नीचे छाती में जलन छिपाये

(ख) दो या अधिक वर्णों की शब्दों के आदि में आवृत्ति

(१) मानते मनुष्य अपने को यदि आप हैं तो
चुमाकर वैरियों को वीरता दिखाइये

(२) कुश कास पै सोना सुना कब है,
सुख ही के लिए जो जिया करते?

(३) कंकन किंकिन नूपर धुनि सुनि

(४) भगवान् की कृपा से नर भाग्यवान होता

(ग) एक वर्ण की शब्दों के अन्त में आवृत्ति

(१) भोग रोग सम

(२) वर दंत की पंगति कुंदकली

(३) सज ली पूजा की थाली

(४) सिंह और मृग एक घाट पर आकर पीते पानी है

(घ) दो या अधिक वर्णों की शब्दों के अन्त में आवृत्ति

(१) जन रंजन भंजन दनुज मनुज रूप सुरभूप
विश्व बदर इव धृत उदर जोवत सोवत सूप
(२) सोक विकल अति सकल समाजू
(३) मैंने उसे कैद कर लिया उर-अञ्चल में
क्योंकि वह चञ्चल है सर्वथा स्वभाव से।
(४) फुंकरत मूषक को दूषक भुजंग तासों
जंग करिबे को भुक्यो मोर हद हेला में ॥
(५) सकुचति ऐंचति अंग गंग सुख संग लजानी।
(६) कोमलता सम्मिलित जहाँ सुन्दरता होती

(२) वृत्त्यनुप्रास

वृत्तियों के अनुसार जब शब्दों के आदि अथवा अन्त में एक वर्ण अथवा अनेक वर्णों का प्रयोग कई बार होता है तब वृत्तिअनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास) होता है।

शब्द के अन्तर्गत रस के अनुकूल अक्षरों की योजना को वृत्ति कहते है। साहित्य-शास्त्रियों ने प्रत्येक रस की कविता की सुन्दरता के लिए वर्णों का विधान किया है। उसके अनुसार—

(क) शृङ्गार, हास्य और करुणरस के वर्णन में टवर्ग (ट,ठ,ड,ढ), सभी वर्गों के पञ्चम वर्ण (ङ, ञ, ण, न, म) तथा 'र' के संयोग से बने शब्दों के अतिरिक्त शेष वर्णों से बने हुए शब्द प्रयुक्त होने चाहिए तथा सामासिक शब्द न होने चाहिएँ; यदि वे हों भी तो छोटे-छोटे हों। इस प्रकार की वर्ण योजना को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।

(ख) वीर, भयानक और रौद्र रस के वर्णन में ऐसे शब्द आने चाहिएँ जिनमें टवर्ग के वर्ण प्रयुक्त हों; ऐसे संयुक्त वर्ण आयें जो वर्ग के पहले तथा तीसरे एवं दूसरे तथा चौथे वर्णों के मेल से बने हों (यथा,च्छ,

ढ, ड, आदि) और लम्बे-लम्बे समासों वाले शब्द हों। इस तरह के अक्षरों की योजना में परुषा वृत्ति होती है।

(ग) शान्त अद्भुत और वीभत्स रसों में सभी कोमल वर्णों (विशेषकर य, र, ल, व के संयोग) से बने, छोटे-छोटे समासों वाले या समास-विहीन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ऐसे वर्ण-संघटन में कोमला वृत्ति होती है।

अत वृत्यनुप्रास में इन्हीं वृत्तियों के अनुसार वर्णों का एक से अधिक वार शब्दों मे प्रयोग होता है। जैसे छेकानुप्रास मे होता है वैसा ही इसमे भी वर्णों का प्रयोग चार प्रकार से होता है—

(१) एक वर्ण का शब्द के आरम्भ मे कई वार प्रयोग
(२) अनेक वर्णों का शब्द के आरम्भ मे कई वार प्रयोग
(३) एक वर्ण का शब्द के अन्त में कई वार प्रयोग.
और (४) अनेक वर्णों का शब्द के अन्त मे कई वार प्रयोग।

जैसे—

(१) 'करुणा कलित कैसी कला कमनीय कोमल कान्ति है' में 'क्' वर्ण सात शब्दों मे सर्वत्र आरम्भ में ही आया है। इसका अनेक वार प्रयोग हुआ।

(२) लहरत लहर लहरिया अजब बहार

यहाँ ल, ह और र, इन तीन वर्णों का प्रयोग तीन शब्दों मे सर्वत्र आरम्भ में ही हुआ। ये एक से अधिक—अनेक वार प्रयुक्त हुए।

(३) 'अवधेस सुरेस रमेस विभो सरनागति माँगत पाहि प्रभो' में 'स' अक्षर तीन शब्दों मे सर्वत्र अन्त में आया है। इस वर्ण का अनेक वार शब्दान्त में प्रयोग हुआ।

(४) 'ललकति, पुलकति, किलकति, थिरकति, निरखति वनि ठनि' मे 'क' 'ति' ये दो वर्ण चार शब्दों मे सर्वत्र अन्त मे आये है। उनका, इस प्रकार, शब्दान्त मे अनेक वार प्रयोग हुआ।

ऊपर के चारों उदाहरणों में एक वर्ण वा अनेक वर्णों का एक से अधिक बार कई शब्दों में प्रयोग हुआ है। इससे इन सबमें वृत्यनुप्रास है

निम्नलिखित अवतरणों में भी वृत्यनुप्रास है। ये उदाहरण भी उपर्युक्त क्रम से संकलित किये गये है :—

(क) १—कारी कुरूप कसाईन पै सु कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागी

२—सम सुवरन सुपमाकर सुखद न थोर
सीय अंग, सखि, कोमल, कनक, कठोर

३—लला लुनाई ललना सलोनी विलोकती लोल विलोचनों से

४—छटकि छींट छवि छाई सकल छिति पै छहरै

५—तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै
बृन्दावन वीथिन वहार वंसी वट पै।
कहै पदमाकर अखंड रास मंडल पै
मंडित उमंडि महा कालिन्दी के तट पै।
छिति पर छान पर छाजत छतान पर
ललित लतान पर लाडिली की लट पै।
आयी भले छायी यह सरद जुन्हाई जिहि
पायी छवि आजुही कन्हाई के मुकुट पै।

सूचना—इस उदाहरण में प्रधानतया 'उपनागरिका' वृत्ति है। दूसरे चरण में 'ड' और चारों चरणों में अंत के अक्षर के पहले 'ट' का प्रयोग हुआ है। ये वर्ण परुषा वृत्ति के लिए आवश्यक है, परन्तु उपनागरिका वृत्ति में, शृंगार रस की रचना में, इनका प्रयोग कवि ने किया है। यह दोष है।]

विशेष— उपर्युक्त उदाहरणों में पहले, दूसरे में 'उपनागरिका', तीसरे चौथे में 'कोमला' और पाँचवे में ये दोनों वृत्तियाँ हैं।

(ख) १—विनता-सुवन होके विनत
हरि से विनय करने लगे।

२—विलोकते ही उसको वराह की
विलोप होती वर वीरता रही।

३—गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनी जन है
चाँदनी है, चिक है, चिरागन की माला हैं।

४—धरम धुरीन धीर नय नागर।

सूचना—उपर्युक्त उदाहरणों मे पहले तीन में 'कोमला' और चौथे 'उपनागरिका' वृत्ति है।

(ग) १—अहो भूप कुल कमल अमल अति प्रबल प्रभाकर।
२—नभ-जल-थल-चर विकल सकल थल थल हहलाने।
३—बाढ़ी गंग-उमंग भग पर उर अभिलापे।
४—कूलन में केलि में कछारन मे कुंजन मे
क्यारिन मे कलिन कलीन किलकंत है।
कहै पदमाकर परागन में पौन हू मे,
पानन मे पीक में पलासन पगत है।
द्वार मे दिसान मे दुनी मे देस देसन में,
देखो दीप दीपन में दीपत दिगत है।
वीथिन मे ब्रज मे नवेलिन मे वेलिन मे,
बनन मे बागन मे बगरो बसत है॥

[टिप्पणी—इस छंद के प्रत्येक चरण मे ऐसे अनेक शब्द आये हैं जिनके अन मे 'न' वर्ण प्रयुक्त हुआ हैं। इसकी विशेषता यह भी है कि चरो चरणो मे क्रमश 'क' 'प' 'द' और 'ब' से आरंभ होनेवले अनेक शब्द भी आये हैं। इस प्रकार इसमे दोहरा वृत्त्यनुप्रास है ।]

सूचना—ऊपर के अवतरणों मे से पहले, दूसरे मे 'कोमला', तीसरे में 'उपनागरिका' और चौथे मे ये दोनों वृत्तियाँ है।

(घ)—अरुन कोकनन्द चरन सरन जो असरन जन के।

२—मुंड कटत कहुँ रुंड नटत कहुँ सुंड पटत घन।
गिद्ध लसत कहुँ सिद्ध हँसत सुख-वृद्धि रसत मन॥
भूत फिरत करि वूत भिरत सुर दूत विरत तहँ।
चंडि नचत मन मंडि रचत धुनि डंडि मचत जहँ॥
इकि ठानि घोर घमसान अति भूषण तेज कियो अटल।
सिवराज साहि- सुव खग्गबल दलि अडोल बहलोल दल॥

[यहाँ अंतिम चरण में 'कोमला' वृत्ति के अनुरूप 'ल' वर्ण है, फिर भी कवि ने इसे 'परुषा' के लिए प्रयुक्त किया है।]

३—रेणुका की रासन में कीच कुस कासन में॥
निकट निवासन में आसन लदाउ के।
कहै पदमाकर तहाँई मंजु मूरन में
धौरो धौरी पूरन में पूरन प्रभाऊ के॥
पारन में वारन में देखहु दरारन में,
नाचति है मुक़ति अधीन सब क्राऊ के।
कूल औ कछारन में गंगा-जल-धारन में,
संबुक सेवारन में झारन में झाऊ के॥

यहाँ पहले चरण 'सन' और शेष तीन में 'रन' कई शब्दों के अन्त में आये हैं। साथ ही प्रत्येक चरण में ऐसे शब्द भी हैं जिनके आरम्भ में एक अथवा अधिक बार समान वर्ण आये हैं। इससे इसमें छेक और वृत्ति दोनों प्रकार के अनुप्रासों का सुन्दर सम्मिलन हुआ है।

सूचना—ऊपर दिये हुए अवतरणों में से पहले और तीसरे में 'उपनागरिका' एवं 'कोमला' और दूसरे में 'परुषा' वृत्ति है।

(३) श्रुत्यनुप्रास

जहाँ शब्दों के आदि, मध्य अथवा अन्त में ऐसे वर्णों का एक वा अनेक बार प्रयोग होता है, जिनका (रूप समान न हो, किन्तु उच्चारण

मुख के एक ही स्थान से हो, वहाँ श्रत्यनुप्रास होता है।

इस अनुप्रास में एक ही प्रकार से उच्चरित होने वाले शब्द आते हैं। उनमें रूप सादृश्य न होने पर भी ध्वनि साम्य होता है। इस एक ही स्थान से होनेवाले उच्चारण को लगातार सुनने मे कानों को—श्रुति को—आनन्द मिलता है। इसी से ऐसे वर्णों के बार बार प्रयोग से श्रुत्यनुप्रास की सुन्दरता प्रकट होती है।

(१) अ' आ विसर्ग, क, ख, ग, घ, ङ, ह,-का उच्चारण कंठ से से होता है। ये कंठ्य वर्ण कहलाते हैं।

(२) इ, ई, च, छ, ज, झ, ञ, श—का उच्चारण तालु से होता है। ये तालव्य वर्ण कहे जाते हैं।

(३) ऋ, ॠ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष—का उच्चारण मूर्धा से होता है। ये वर्ण मूर्धन्य कहलाते हैं।

(४) लृ, त, थ, द, ध, न, ल, स—का उच्चारण दाँतों से होता है। ये दन्त्य कहलाते है।

(५) उ, ऊ, प, फ, ब, भ, म, का—उच्चारण ओठों से होता है। ये ओष्ठ्य कहे जाते है।

(६) ए, ऐ—का उच्चारण कण्ठ और तालु दोनो से होता है ये कण्ठ्य तालव्य कहलाते है।

(७) ओ, औ—का उच्चारण कण्ठ और ओठ दोनों से होता है। ये कण्ठौष्ठ्य कहलाते हैं।

(८) 'व'—का उच्चारण दांत और ओठ दोनों से होता है। यह दन्तौष्ठ्य कहलाता हैं।

(९) अनुस्वार तथा ङ, ञ, ण, न, म—इस पञ्चम वर्णों का उच्चारण नासिका से होता है। ये नासिक्य या आनुनासिक वर्ण माने जाते है।

खिली प्रकृति पटरानी के महलन फुलवारी

यहाँ 'प' 'म' और 'फ' इन तीन ओष्ठ्य वर्णों की आवृत्ति होने से

श्रुत्यनुप्रास है (इसी तरह निम्नांकित अवतरणों में भी श्रुत्यनुप्रास है:—

१—महत् भूतपति, मूर्ति हिमालय-कोख विराजै ।

[यहाँ म, भ, प, व—'ओष्ठ्य' और ह, क—कण्ठ्य वर्णों की आवृति हुई है ।]

२—तुलसिदास सीदत निस दिन देखत तुम्हारि कठिनाई ।

यहाँ त, द, न, स, ल—दन्त्य वर्ण एक साथ कई शब्दों में आये हैं ।

३—ढरकि ढार इक-ढार चली गिरि खंडनि-खंडति ।

[यहाँ ठ, ड—ये मूर्धन्य और ख, ग—ये कण्ठ्य वर्ण दोहराये गये हैं ।]

४—कितने दिन से लखते तुव-पंथ

दिखाओ दया-घन मूर्ति भली ।

यहाँ त, थ, द, ध, न, ल—इन दन्त्य और प, भ, म—इन ओष्ठ्य वर्णों की आवृत हुई है ।]

(४) लाटानुप्रास

अभी तक जिन तीन प्रकार के अनुप्रासों का वर्णन किया गया है उन सब में ऐसे वर्णों या अक्षरों की आवृत्त की जाती है जिनके रूप एक-से होते हैं अथवा जिनका उच्चारण एक ही स्थान से होता है। इनके विपरीत, जब वाक्य में कुछ शब्द' शब्दों वाक्यांशों या वाक्यों की आवृत्ति होती है तब लाटानुप्रास* होता है। इस आवृत में कुछ विशेपता होती है। जिस शब्द समूह की आवृति होती है उसका अर्थ एक सा ही रहता है उन सामान अर्थवाले शब्दों के प्रयुक्त होने पर पूरे

---

*सो लाटानुप्रास जब पद की आवृत होइ,
शब्द अर्थ के भेद सों विना हूँ सोइ ।

वाक्य का तात्पर्य, अन्वय के द्वारा, अलग अलग स्पष्ट हो जाता है। इस बात का विश्लेषण करने पर लाटानुप्रास के लिए यह आवश्यक होता है कि

(१) पद, पद समूह अथवा पूरे वाक्य की आवृत्ति हो :

(२) जिन शब्दों की आवृत्ति हुई हो उनके अर्थ में भेद न हो साहश्य हो लेकिन (३) अन्वय करने पर शब्दों का तात्पर्य अलग अलग विदित हो जाय। यथा

पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग, नरक ता हेतु।
पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु॥

यहाँ दोनों पंक्तियों में पूरे वाक्य का ज्यों का त्यों आवृत्ति हुई है दोनों पंक्तियों में प्रयुक्त समान रूप के शब्दों के अर्थ भी समान हैं। परन्तु अन्वय करने से जो अर्थ विरामों के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है पहली पंक्ति का अर्थ है—जो जन पराधीन है, उसके लिए स्वर्ग नहीं (वना) है नरक (वना) है। दूसरी पंक्ति का अर्थ है—जो जन पराधीन नहीं है उसके लिए नरक (भी) स्वर्ग है (अर्थात् यदि उसे नरक में भी रहना पड़े तो उसके स्वतंत्र होने के कारण वह उसको स्वर्ग के समान सुखप्रद होगा।)

जब दया वाले बने न दया दिखा,
तब दया का गान क्या करते रहे ?

यहाँ एकार्थवाचक 'दया' शब्द तीन बार आया है, परन्तु प्रत्येक का सम्बन्ध, भिन्न शब्दों से होने के कारण वाक्य के अन्तर्गत उनका अर्थ अन्वय के द्वारा अलग अलग होगा।

निम्नांकित अवतरणों में भी लाटानुप्रास है :—

(१) सशान्ति आते उनको विलोक के,
सशान्ति जाते ढिग थे प्रसून के।

(२) पूत सपूत तो का धन संचय ?
पूत कपूत तो का धन संचय ?

अर्थ—यदि पुत्र सुपुत्र है तो उसके लिए धन-संचय की क्या आवश्यतता है ? (वह स्वयं कमा लेगा ही) और यदि पुत्र कुपुत्र है तो उनके लिए (भी) धन संचय की क्या आवश्यकता है ? (क्योंकि वह उसे नष्ट कर देगा)।

(३) औरन को जाँचे कहा जो जाँचे शिवराज ?
औरन को जाँचे कहा जो न जाँचे शिवराज ?

अर्थ—शिवा जी से माँगने पर (पर्याप्त धन मिल जाने से) दूसरों से माँगने की आवश्यकता नहीं और शिवा जी से न माँगने पर भी दूसरों से माँगने की आवश्कता नहीं (कारण, उनसे पर्याप्त मिलेगा नहीं' इससे माँगने की आवश्यकता बनी ही रह जायगी।)

नंद--चख--चंद, चंद।वंश--नख--चंद, ब्रज
चंद-मुख-चंद पै अनेक चंद वारौं मैं।

वास्तव में एक ही अर्थ होते हुए भी यहाँ 'चंद' शब्द का अन्य शब्दों के संसर्ग से भिन्न अर्थ हो जाता है।

(५)लाल विलोचन, लाले पल' लालहि जावक भाल।
रस-रंजित चित लाल अब बने बिहारी लाल॥
(६) पीयनिकट जाके, नहीं घाम चाँदनी ताहि।
पीय निकट जाके नहीं घाम चाँदनी ताहि॥

(५) अन्त्यानुप्रास

पद्य-बद्ध रचना में चरणों के अन्त में जो शब्द-समूह आते हैं वे बहुधा एक से होते मैं ; इसी चरणान्त के शब्द साम्य में अन्त्यानुप्रास होता है जैसे,

वह मेरे प्रेम विहँसते जागो मेरे मधुवन में।
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में॥

इसमें 'वन में' ये तीन अक्षर दोनों चरणों के अन्त में आये हैं। इस कारण यहाँ अन्त्यानुप्रास हैं।

टिप्पणी—हिन्दी में अन्त्यानुप्रास बहुत अधिक कविताओं मे पाया जाता है ऊपर भी अन्य अनुप्रासों के उदाहरण-स्वरूप जिन छन्दों के दो या अधिक चरण उद्धृत किये गये है। उन सब के चरणान्त मे अन्त्यानुप्रास है इस कारण यहाँ और उदाहरण नहीं दिये जाते।

यमक

लाटानुप्रास मे, जैसा बतलाया जा चुका है, दो शब्दों, या वाक्यांशों का आवृत्ति होती है, उनके अर्थ अ-भिन्न रहते हुए भी अन्वय के सहारे, पूरे कथन के, अलग-अलग अर्थ हो जाते हैं। लेकिन जब एक ही रूप के दो वा अधिक शब्द अथवा शब्दांश आये, परन्तु उनके अर्थ भिन्न हो, तब यमक*अलंकार होता है।

(१) कभी कभी, दो या अधिक पूर्ण शब्दो की आवृत्ति होती है। वे अ-भग रहते है। ऐसे अवसर पर अभंग पद (अथवा सार्थक) यमक होता है। किन्तु (२) जब कभी एक या दोनों (अथवा कई होने पर एक अथवा अधिक) शब्द पूर्ण नहीं होते, शब्दांश मात्र होते है, तब भंग-पद (अथवा निरर्थक) यमक होता है।

अभग पद यमक अधिक अच्छा होता है। भंग पद मे केवलअनुप्रास का-सी सुन्दरता रहती है उदाहरण के सहारे ये दोनो प्रकार के यमक सुगमता से समझ मे आ जायँगे।

कनक 'कनक' तें सौ गुनी मादकता अधिकाय।

यहाँ 'कनक' शब्द दो बार आया है। पहले का अर्थ है 'सोना, और दूसरे का 'धतूरा'। इसका अर्थ है—सोने मे धतूरे से सौ गुना अधिक मद होता है।

डासन छाँड़ि कै आसन ऊपर आसन मार्‍यो पै आसन मारी।

---

*वहै शब्द फिर फिर परै अर्थ औरई और।

यहाँ 'आसन' पूर्ण शब्द है, 'आस, न'—दो शब्द हैं। इससे इसमें भंग पद यमक है।

नीचे अभंग पद और भंग-पद, दोनों प्रकार के, यमकों के कुछ और उदाहरण दिये जाते हैं :—

अभंग-पद यमक

(१) धरती बान वेधि सब राखो, साखो ठाढ़ देहि सब साखी

[साखी = साक्ष्य, गवाही; साखो = वृक्ष]

(२) सारँग ने सारँग गह्यो, सारँग बोल्यो आय।

जो सारँग मुख ते कहै, सारँग निकस्यो जाय॥

[सारँग (सारंग) के अर्थ पहली पंक्ति में क्रमशः मोर, सर्प और बादल हैं और दूसरी में क्रमशः मोर और सर्प हैं।]

(३) जीवन-दायक हैं घन के सम

जीवन-जीवन में घनश्याम हैं।

[जीवन = प्राण, जल; जीवन = जीवों' जीवन = प्राण]

(४) भीषम भयानक पुकार्‌यो रनभूमि आनि,

छायी छिति छत्रिन को गोत उठि जायगी।

कहै 'रतनाकर' रुधिर सों रुँधेगी धरा,

लोथिन पै लोथिन की भीति उठि जायगी।

जीत उठि जायगो अजीत पांडु-पूतन की,

भूप दुरजोधन की भीति उठ जायगी।

कै तो प्रीति रीति की सुनीति उठि जायगी,

आज हरि-प्रन की प्रतीत उठि जायगी॥

[दूसरे चरण में, भीति उठि जायगी = भित्ति, दीवाल खड़ी हो जायगी, ढेर लग जायगा। तीसरे में, भीति उठि जायगी = भय दूर हो जायगा।]

(५) आँख लगती है तब आँख लगती ही नहीं,
प्यास रहती है लगी सजल नयन में।
[आँख लगती है = प्रीति हो जाती है· आंख· लगती ही नहीं = नींद नहीं आती है]

भंग-पद यमक

(१) हौं तो पंच-भूत तजिवे को तक्यो तोहि, पर
तैं तो कर्यो मोहि भल्यो भूतन को पति हैं।—
[भूत = तत्व. भूत × प्रेत, जीव। यहाँ पहला 'भूत' शब्द 'पंचभूत शब्द का अंश है और दूसरा 'भूत' 'भूतन' शब्द का।]
(२) एक भव शूल आयो मेटिवे को तेरे कूल,
तोहि तो त्रिशूल देत वार न लगनि है।—
[शूल = वेदना, कष्ट, (त्रि) शूल = (तीन) नोक (वाला, शंकर का शस्त्र विशेष) अथवा काँटा।]
(३) वह नित कलपाता है मुझे कान्त होके
जिस बिन कल पाता है नहीं प्राण मेरा।
[कलपाता = तड़पाता। कल पाता - चैन पाता।]
(४) जानकी देहु तो जान की खैर,
न तो यह जानकी जान की गाहक।
[जानकी = सीता जान की = प्राण की]
(५) वचन पालक बालक बाप के।
सुन परं न परे जग आप के॥
[यहाँ 'लक वा' 'लक वा' तथा 'न परे,' 'न परं' का निरर्थक यमक है।]

मनका फेरत जुग भया गया न मन का फेर
कर का मनका छाँड़ि कै मन का मनका फेर॥

[फेर = भेद भाव; फेर = जप कर । मनका = माला; मन का = हृदय का ।]

श्लेप

यमक में एक ही शब्द कई वार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु, जब एक ही शब्द केवल एक बार प्रयुक्त होता है, और उसके दो या अधिक अर्थ निकलते हैं तब श्लेप ❀ अलंकार होता है। श्लेप कभी किसी शब्द में होता है, और कभी किसी समस्त-पद (सामासिक-शब्द) में, जो उसके भिन्न-भिन्न प्रकार से विग्रह करने पर ज्ञात होता है। जैसे, समास विहीन शब्द में—

साधु चरित सुभ सरिस कपासू।
निरस विसद गुन-मय फल जासू ॥

यहाँ 'गुन' शब्द से 'गुण', और 'तार' दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। यदि 'गुन की जगह पर 'सूत' शब्द रख दें तो साधुओं के चरित्र की तुलना कपास से भले ही हो जाय; पर वह सुन्दरता न रहेगी, जो 'गुन' शब्द के कारण है; और न यह सुन्दरता 'गुन' के दूसरे पर्याय, 'शील' के रखने से ही रह जायगी; क्योंकि तव साधु-चरित्र की कपास से तुलना सार्थक न होगी। इस कारण यहाँ साधु-चरित्र और कपास दोनों के लिए अलग-अलग अर्थों का संकेत करने के कारण 'गुन' श्लिष्ट-पद है ।

भूषण सदृश उडगन हुए मुख चन्द्र शोभा छा रही।
विमलाम्बरा रजनी वधू अभिसारिका-सी जा रही ॥

यहाँ 'विमलाम्बरा' शब्द के उत्तरार्ध 'अम्बरा' में श्लेप है इसके दो अर्थ—'वस्त्र' पहने हुए,' और 'आकाश- संयुक्त'—होते हैं । इन्हीं दोनों अर्थों के निकलने पर रजनी को अभिसारिका का रूप देने में सफलता मिल सकेगी, अन्यथा नहीं। यदि 'अम्बरा' की जगह पर 'गगनवाली' या 'वस्त्र विभूपिता' रखें, तो रात को अभिसारिका का

❀श्लेष अलंकृति अर्थ बहु एक शब्द में होत।

रूप नहीं दिया जा सकेगा।

अब समस्त पद के दो भिन्न-भिन्न प्रकार से किये हुए विग्रहों पर निर्भर रहने वाले यमक का भी एक उदाहरण देखिए—

वहुरि सक्रसम विनवहुँ तेही।
सतत सुरानीक हित जेही॥

यहाँ 'सुरानीक' शब्द में श्लेष है। सुर+अनीक =देवताओं की सेना; सुरा+नीक=शराव अच्छी लगती है (जिनको) । कवि श्री तुलसीदास जो (दुष्टों के विषय मे लिखते हुए) कहते हैं कि 'मैं (दुष्टों को) इन्द्र के समान समझकर उनकी विनती करता हूँ क्योंकि दोनों को सुरानीक प्रिय है, अर्थात् इन्द्र को देवताओं की सेना प्रिय है, और दुष्टों को सुरा।'

यहाँ 'सुरानीक'—इस समस्त पद पर ही श्लेष निर्भर है। यदि इसका पर्याय 'देवानीक' अथवा 'सुरा सुघर' अथवा कोई अन्य शब्द रखें तो इन्द्र और दुष्ट के साम्य का, जो यहाँ केवल इस शब्द चमत्कार पर निर्भर है, तिरोभाव हो जायगा।

नीचे श्लेष के कुछ और उदाहरण भी दिये जाते हैं—

(१) जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत की सोय।
वारे उजियारे करै, वढ़े अँधेरो होय॥

वारे =(दीपक पक्ष मे) जलाने से, (कुपूत पक्ष मे) लड़कपन मे। वढ़े - (दीपक पक्ष मे) वुझ जाने पर, (कुपूत पक्ष मे) वयस्क, वड़ा होने पर।

(२) रहिमन पानी राखिए, विन पानी सव सून।
पानी गये न ऊवरै, मोती मानुस चून॥

पानी = (मोती के प्रसंग में) 'आव' कान्ति, चमक, (मानुस के प्रसंग मे) आत्म गौरव, प्रतिष्ठा (चून के प्रसंग मे) जल।

(३) विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये,
प्रियतम, वतला दो लाल मेरा कहाँ है ?

लाल = माणिक्य; पुत्र (यहाँ, श्रीकृष्ण से तात्पर्य है)

[यह उक्ति श्रीकृष्ण को मथुरा में छोड़कर अकेले ही गोकुल लौटे नन्द के प्रति यशोदा की है।]

(४) रावन सिर-सरोज-वन चारी।
चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥

सिलीमुख = बाण; भौंरा। इसका अर्थ है—रावण के सिर रूपी कमलों के वन में विहार करने वाले (भौंरों के सदृश) श्री राम के बाण चले।

सूचना—यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी शब्द में श्लेष तभी होता है जब वाक्य में उसके एक से अधिक अर्थ उपयुक्त रीति से जम जाते हों; अर्थात् कवि या वक्ता, उनका प्रयोग उन सभी अर्थों पर दृष्टि रखकर ही किया करता है।

अर्थ-श्लेष

ऊपर शब्द-गत श्लेष का वर्णन किया गया है। उसमें शब्द-विशेष के एक से अधिक अर्थों की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि वह शब्द हटा कर, उसकी जगह उसका समानार्थक दूसरा शब्द रख दिया जाय तो उक्ति का चमत्कार जाता रहेगा। यह स्पष्ट किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार का भी श्लेष होता है। उसमें ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जिनका अर्थ तो एक ही होता है पर वह वाक्य में एक से अधिक पक्ष में लागू हो जाता है। ऐसे शब्दों के स्थान में उनके पर्याय रखने पर भी समूचे वाक्य में उनका अर्थ पहले की भाँति अनेक पक्षों में लगता रहता है। जैसे,

पर-मन्दिर जाय बुलाये बिना मृदु बात बनाय रिझायो करैं।
कविता कमनीयन की पतियान पियूष-प्रवाह बहायो करैं॥
गुन गौरवता अपनी न गनैं निगुनीनहु के गुन गायो करैं।
परमारथ-स्वारथ साधत हैं सम साधु असाधु लखायो करैं॥

यहाँ अन्तिम चरण को देखने से पता चलता है कि सज्जन और असज्जन समान देखे जाते हैं। यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसी को प्रमाणित करने के लिए कवि ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनके अर्थ एक ही होते हुए भी दोनों पक्षों में ठीक उतरते हैं—यह देखिये—

(१) साधु पक्ष में—वे दूसरों के घर, (उनके उपकार करने की भावना से प्रेरित होकर) अपने आप ही जाकर, (बुलाने से जाते तो परोपकार न रहता, उसे तो स्वत: प्रेरित होना-चाहिए) मीठी बातें करके (क्योंकि मधुर भाषी होना तो उनका स्वभाव है, वे कड़ी बातें कभी कह ही नहीं सकते) उनको प्रसन्न करते हैं। (उनसे काव्य चर्चा करते समय) अनेक कमनीय सुन्दर कविताओं का पाठ करके अमृत का सा प्रवाह बहाया करते हैं। उन्हें अहंभाव का ध्यान नहीं रहता —वे मानापमान की भावना से ऊँचे उठे होते हैं, सदैव समभाव रखते हैं—और गुण विहीनों का भी गुण-गान करते हैं (उनकी समझ में गुणी और मूर्ख सब समान होते हैं।) इस प्रकार सज्जन लोग परमार्थ का साधन किया करते हैं।

(२) असाधु पक्ष में—(स्वार्थ की सिद्धि के निमित्त) वे लोग दूसरों के घर (प्रकट रूप में निस्वार्थ बनने के उद्देश्य से) अपने आप ही जाकर उनसे मीठी बातें करके उनको प्रसन्न किया करते हैं (क्योंकि प्रसन्न करके ही किसी से अपना काम निकाला जा सकता है, और बिना मीठी बात कहे कोई अपने पर प्रसन्न नहीं होता) (काव्य चर्चा चलने पर) अनेक कामनीय-कविताओं का पाठ करके अमृत का प्रवाह बहाया करते हैं (ऐसा करके काव्य-मर्मज्ञ बनने का ढोंग करने पर ही तो दूसरों को यह भ्रम हो सकता है कि ये सचमुच विद्वान हैं। और जब वे उन्हें विद्वान समझने लगें, तभी उनके चंगुल में फँस सकेंगे उन्हें अहंभाव का ध्यान नहीं रहता (यदि मानापमान का ध्यान रक्खेंगे तो दूसरे लोग उन्हें किस तरह महात्मा समझेंगे ? और महात्मापन का प्रदर्शन करके ही तो वे दूसरों पर अपना जादू चलाया करते

हैं) और गुण-विहीनों के भी गुण-गान करते हैं (यदि मूर्खों की झूठी प्रशंसा न करेंगे तो वे प्रसन्न कैसे होंगे? और बिना प्रसन्न हुए जाल में न फँसेंगे)। इस प्रकार असज्जन अपना स्वार्थ साधा करते हैं।

इस छन्द में यदि 'पर-मन्दिर' की जगह पर 'अन्य-भवन' 'पीयूष प्रवाह' की जगह 'अमृत-धारा' या अन्य शब्दों की जगह पर ऐसे ही उनके पर्याय रख दें तो भी इसके, ऊपर दिए हुए, दोनों अर्थ निकलेंगे। इस कारण यहाँ शब्द-गत नहीं, अर्थ-गत श्लेष है।

इसी प्रकार, नीचे के छन्द से 'खल' और 'तराजू की डंडी, दोनों पक्षों के अर्थ निकलते हैं—

रंचहि सों ऊँचे चढ़ैं, रंचहि सो घटि जाहि।
तुला-कोटि, खल, दुहुन की सदृश रीति जग माहिं॥

यहाँ 'रंचहि सो ऊँचे चढ़ैं' का अर्थ है—थोड़े में ही ऊपर उठ जाते है, और रंचहि सों घटि जाहि' का अर्थ है—थोड़े में गिर जाते हैं' इनके ये दोनों अर्थ दोनों प्रसंगों में उपयुक्त हो जाते हैं। तराजू की डंडी का ऊपर उठना और नीचे गिरना तो स्पष्ट ही है, वह किञ्चित् उँगली का सहारा पाते ही ऊपर-नीचे हो जाती हैं। खल का ऊँचे चढ़ना—इसका तात्पर्य है उसका अभिमान करके अपने आश्रयदाता पर ही रंग जमाने की चेष्टा करने लगना; और उसका घटना है—तनिक सी त्योरी बदली हुई देखते ही उसका झट नम्रता का नाट्य करके पैरों पर पड़ने लगना, दीन बनना।

अर्थालङ्कार

पिछले पृष्ठों में जिन शब्दालंकारों का परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट हो गया होगा कि उनमें अलंकारता केवल कुछ शब्दों पर निर्भर रहती है। यदि उनके स्थान पर उनके समान अर्थ वाले शब्द काम में लाये जायँ तो वाक्य की रोचकता नष्ट हो जाती है। अब कुछ ऐसे अलंकारों को देखना है जिनमें शब्दों के रूप पर नहीं, किन्तु उनसे अर्थ

पर ध्यान जाने से युक्ति की रमणीयता प्रकट होती है। वे शब्द ऐसे होते हैं जिनके पर्याय भी वही रमणीयता बनाये रखते हैं। ऐसे अलंकार, जैसा पहले ही बतलाया जा चुका है, अर्थालंकार कहलाते हैं।

उदाहरण लेकर स्पष्ट कर देने से यह बात बुद्धि-ग्राह्य हो जायगी। किसी की बड़ी-बड़ी आँखें देखकर उनका वर्णन कोई यों करता है। 'ये नेत्र तो कमल के समान हैं। इनमें लालिमा भी वैसी है, ये जल से युक्त भी वैसे हैं और इनका आकार भी वैसा ही है।'

यहाँ नेत्रों और कमल के फूल की समता सिद्ध की गयी है। यदि वक्ता चाहे तो 'नेत्र' शब्द के स्थान पर आँख नयन, अक्ष आदि उसके किसी पर्याय का प्रयोग कर सकता है। इसी तरह, कमल की जगह भी पद्म, जलज सरसीरुह, सरोरुह आदि उसका कोई भी पर्याय रखा जा सकता है! परन्तु ऐसा करने पर, इन दोनों शब्दों के साथ ही वाक्य के अन्य शब्दों के पर्याय रखने पर भी, तब तक उसका सौन्दर्य बना रहेगा, जब तक उसमें इस समय प्रयुक्त शब्दों के पर्याय ही रहेंगे, कोई नया शब्द न संयोजित होगा। अर्थात् इसी वाक्य के कहने के नीचे लिखे हुए दो-तीन प्रकार भी हो सकते हैं, पर सब में भाव-सौन्दर्य पहले के समान ही रहेगा। कारण, वाक्य की रोचकता इसमें प्रयुक्त शब्दों पर नहीं, प्रत्युत उनके अर्थ पर निर्भर है—

(क) ये नयन पद्म के सदृश हैं।

(ख) ये नेत्र जलज की तरह हैं।

(ग) ये आँखें सरसीरुह की सी हैं।

अर्थालंकारों में बहुत से अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें दो वस्तुओं की तुलना की जाती है। यहाँ पहले कुछ ऐसे ही अलङ्कारों का वर्णन करेंगे। सबसे पहले, इस तरह के अलङ्कारों में मुख्य, उपमा का परिचय देना उचित प्रतीत होता है

उपमा

किसी वस्तु का उल्लेख करने के बाद कभी कभी उसकी समता किसी ऐसी वस्तु से की जाती है जो किसी बात (या कुछ बातों में) उसकी अपेक्षा अधिक लोक प्रसिद्ध होती है, जिसमें (या जिनमें) समता करने का लक्ष्य रहता है। ऐसे अवसर पर उपमा १ अलंकार होता है। जैसे—

मोहन सिंह के समान निर्भय है—इस वाक्य में मोहन की निर्भयता की बराबरी ऐसे जीव की निडरता से की गयी है जो सब लोगों को विदित है।

इस उदाहरण के विश्लेषण करने पर हमें इसके चार अङ्ग दिखायी पड़ते हैं:—

(१) मोहन—अर्थात् वह जिसका वर्णन किया गया है।

(२) सिंह—अर्थात् वह जिससे वर्ण्य की तुलना की गयी है;

(३) समान—अर्थात् वह शब्द जिसके द्वारा तुलना का भाव प्रकट किया गया है; और

(४) निर्भय अर्थात् वह गुण या विशेषता जिसके विषय में तुलना की गई है।

उपमा में उसके इन चारों अंगों का होना अनिवार्य है। इसलिए इन्हे कुछ ध्यान से समझ लेना चाहिए।

(१) जिस वस्तु, व्यक्ति; पदार्थ आदि का वर्णन इष्ट होता है, अर्थात् जिसकी तुलना किसी अन्य वस्तु से की जाती है उसको उपमेय कहते है।

१—रूप रंग गुण काहु को काहू के अनुसार।
ताकों 'उपमा' कहत हैं जे सुबुद्धि आगार॥

२—जाको वर्णन कीजिए सो उपमेय प्रमान।

(२) जिस व्यक्ति, पदार्थ आदि से किसी की तुलना की जाती है, उसको उपमान[१] कहते हैं।

उपमान के विषय में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह सर्वत्र संसार में, कम से कम साहित्य समाज में, सर्व प्रसिद्ध हो। अर्थात् उपमान ऐसा होना चाहिए जो उपमेय की अपेक्षा कम-प्रसिद्ध न हो।

(३) जिस शब्द के द्वारा उपमेय और उपमान की तुलना का भाव प्रकट होता है उसे उपमा वाचक शब्द या वाचक कहते हैं।

हिन्दी में कुछ प्रसिद्ध वाचक-शब्द[२] ये हैं:—सो, से, सी, इव, तूल, तुल्य, लौं, सरीखा, तरह, सम, सदृश, समान, ज्यों जैसे, इमि, सरिस और जिमि।

(४)जिस बात में उपमेय और उपमान की तुलना की जाती है उसको साधारण धर्म, (सामान्य धर्म) या, संक्षेप में, धर्म कहते हैं।

उपमेय और उपमान में तीन बातों में सादृश्य स्थापित किया जाता है—(१) रूप या आकार में, (२) वर्ण या रंग में, और (३) गुण या विशेषता में।

कभी यह सादृश्य इनमें से किसी एक ही बात पर लक्ष्य रखकर किया जाता है, कभी दो पर, और कभी तीनों पर लक्ष्य रखकर। जितनी ही अधिक बातों पर समता अभिप्रेत होती है उतनी ही अच्छी उपमा समझी जाती है।

ऊपर दिये हुए उदाहरण—'मोहन सिंह के समान निर्भय'—में

(१) मोहन—उपमेय है,

(२) सिंह—उपमान है,

१—जाकी समता कीजिए ताहि कहत उपमान ॥

२—सो, से, सी, इव, तूल, लौं, सम अरु सदृश, समान।
ज्यों, जैसे, इमि, सरिस जिमि, उपमावाचक जान॥

(३) समान—वाचक शब्द है,
और (४) निर्भय—धर्म है।

जब किसी उपमा में ये चारों बातें वर्तमान हों तब पूर्णोपमा होती है। 'मोहन सिंह के समान निर्भय है, में पूर्णोपमा है ; परन्तु जब इन चारों अङ्गों में से कोई भी एक या अधिक अङ्ग नहीं रहते तब लुप्तोपमा होती हैं। जैसे 'मोहन सिंह के समान है, में साधारण धर्म' निर्भय' नहीं है। इसलिए इसमें लुप्तोपमा है।

उपमा के लिए कुछ आवश्यक बातें

यदि दो वस्तुओं में तुलना की जाय और वाक्य में उपमा के उपर्युक्त चारों अङ्ग भी विद्यमान हों तो यह आवश्यक नहीं है कि उसमें सदैव उपमा अलंकार हो ही। इस अलंकार के लिए पहली आवश्यकता यह है कि दो भिन्न भिन्न वस्तुओं की तुलना की जाय राधा राधा के सामान है"("तुम सम तुम,' भरत भरत सम जानि"—इन उदाहरणों में उपमा अलंकार नहीं है, क्योंकि इनमें उपमेय और उपमान दो भिन्न भिन्न व्यक्ति नहीं हैं। उपमा के लिए दूसरी आवश्यकता यह है कि (क) उपमेय से उपमान उस बात में बढ़कर सुन्दर हो जिसमें दोनों की समता की जाय और (ख) उसका बढ़कर होना लोक प्रसिद्ध हो। सोहन की टाँगे सारस के समान हैं—इस वाक्य में, 'सारस की टांगें, पैरों के सुन्दर उपमान न होने से उपमा का मनाना ठीक न होगा। तीसरी आवश्यकता—उपमा के द्वारा केवल आश्चर्य न उत्पन्न किया जाय; किन्तु कल्पना के द्वारा सुन्दर चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की जाय। प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य के लाल बिम्ब को देखकर, केशवदास का यह कहना कि "वह ताजे खून से भरे हुए काल रूपी कापालिक के खप्पर के समान है; सूर्य बिम्ब के सौन्दर्य को नष्ट कर उसे बीभत्स बना देना हैं। ऐसी उपमा अनुचित होने से संगृहणीय नहीं।

आगे पूर्णोपमा के कुछ और उदाहरण दिये जाते हैं.—

(१) नवल सुन्दर श्याम-शरीर की
सजल नीरद-सीकल कान्ति थी।

[नवल सुन्दर श्याम-शरीर—उपमेय सजल नीरद उपमा, सी—वाचक, कलकान्ति—धर्म। यहाँ उपमेय की उपमान के वर्ण से समता की गयी है।]

(२) नीलगगन सम शान्त हृदय था हो रहा।

[हृदय—उपमेय, नीलगगन—उपमान; सम—वाचक, शान्त-धर्म यहाँ उपमेय की उपमान के गुण से समता की गयी है।]

(३) जनक वचन छुए विरवा लजारू के-से
वीर रहे सकल सकुच सिर नाय के।

[वीर—उपमेय, लजारू के विरवा (लाजवन्ती, छुई-मुइ नामक पौधा, जो उँगली से छूते ही मुरझा जाता है)—उपमान से वाचक; संकुच सिरनाय के रहे—धर्म। यहाँ रूप और गुण दोनों में साम्य स्थापित किया गया है।]

(४) शरद जुन्हाई-सी है गात की गोराई चारु।

[गात की गोराई—उपमान, शरत जुन्हाई—उपमान, सी—वाचक, चारु—धर्म। यहाँ उपमेय और उपमान का वर्ण सादृश्य है।]

(५) सारा तन फूल-जैसा मृदुल अतीव है।

[तन—उपमेय फूल—उपमान, जैसा—वाचक; मृदुल—धर्म। यहाँ उपमेय और उपमान में गुण की समता की गयी है।]

अब कुछ उदाहरणों के द्वारा लुप्तोपमा को स्पष्ट किया जाता है—

(२) धर्म-लुप्तोपमा

(क) आनन अनूप जिमि फुल्ल-जलजात है।

[यहाँ उपमेय (आनन) उपमान (फुल्ल जलजात, अर्थात् कमल और वाचक (जिमि) मौजूद हैं। जिस बात में उपमेय और उपमान की समता की गयी है वह नहीं बतलायी गयी।]

(क) स्रवन सुधा सम वचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।

[यहाँ भी केवल उपमेय (वचन), उपमान (सुधा) और वाचक (सम) हैं, धर्म नहीं है।]

(ग) अति दूर क्षितिज पर विपट माल।
लगती भू-रेखा सी अराल ॥

[यहाँ भी केवल उपमेय (विटप- माल), उपमान (भू-रेखा) और वाचक (सी) हैं, धर्म नहीं है।]

(२) वाचक-लुप्तोपमा

(क) दो बाँह नदी के जुगल तीर,
फैले थे कोमल गाठत हीर।

यहाँ उपमेय (दो बाँह)' उपमान (नदी के जुगल तीर), और धर्म (कोमल हैं; किन्तु उपमेय और उपमान की तुलनासूचक 'समान' या इसका समानार्थक कोई उपमा वाचक नहीं है।]

रति रमणीय मूर्ति राधा की।

[यहाँ भी उपमेय (राधा की मूर्ति), उपमान (रति) और धर्म (रमणीय) मौजूद है, किन्तु राधा और रति की समता-सूचक वाचक शब्द का अभाव है।]

(ग) नव अंबुज अंबक छवि नीकी।

[यहाँ भी उपमेय (अंबक = नेत्र), उपमान (नवअंबुज = नवीन कमल) और धर्म (नीकी) हैं, किन्तु नेत्र और कमल का सादृश्य सूचक वाचक शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ।]

(३) उपमेय-लुप्तोपमा

(क) कल्प-लता सी अतिशय कोमल।

[यहाँ उपमान (कल्पलता), वाचक (सी) और धर्म (कोमल) हैं परन्तु कौन ऐसा है, अर्थात् उपमेय. नहीं बतलाया गया।]

(ख) सुनते ही संवाद प्रिय की मृत्यु का।
हो गयी प्रतिमा सदृश चेष्टा विहीन।

[यहाँ उपमान (प्रतिमा' वाचक (सदृश) और धर्म (चेष्टा-विहीन हैं, परन्तु उपमेय का अभाव है।]

(ग) चचल हैं ज्यों मीन' अरुणारे पंकज सरिस

[यहाँ दो उपमेय—लुप्ता उपमाएं हैं। पहली में उपमान—मीन, वाचक—ज्यों और धर्म—चंचल है; तथा दूसरी में उपमान—पंकज वाचक—सरिस और धर्म—अरुणारे है। उपमेय दोनों मे नहीं है।]

(४) उपमान-लुप्तोपमा

सुन्दर नन्द किशोर सो जग में मिलै न और

[यहाँ उपमेय (नन्दकिशोर), वाचक (सो)और धर्म (सुन्दर) है, परन्तु उपमेय का अभाव है, जो 'जग में मिलै न और, से व्यक्त होता है।

सूचना—अलंकार के ग्रन्थों में इसी उदाहरण से सदृश और भी बहुत से उदाहरणों से उपमान-लुप्तोपमा समझायी जाती है। परन्तु यहाँ उपमा अलंकार के लिए अत्यावश्यक नियम को ही धक्का लगता है—इस पर कोई ध्यान देता नहीं जान पड़ता। उपमा के लिए यह जरूरी है कि दो वस्तुओं का तुलना की।जाय। परन्तु यहाँ तो उपमान का सर्वथा अभाव ही बतला दिया जाता है। यदि वह अव्यक्त रहता' जैसे उपमेय, वाचक या धर्म होते हैं, तो हानि न थी। परन्तु उपमान आस्तित्व हो मिट जाने से, उसके लुप्त होने पर भी उपमा की कल्पना करना ठीक नहीं जँचता।

लुप्तोपमा ऐसी भी होती है जिसमें उपमा के किसी एक अंग के स्थान पर दो का भी लोप हो जाता है। स्थाना भाव से यहाँ केवल दो उदाहरण दिये जायँगे।

(तरुन विकच वारिज नयन

यहाँ केवल उपमेय (नयन) और उपमान (तरुन विकच वारिज) है, वाचक और धर्म का अभाव है। अतः यहाँ वाचक धर्म लुप्तोपमा है।

(२) त्योर तिरीछे किये मुनि संगहि
हेरत शंभु शरासन मार से

[यहाँ उपमान (मार = कामदेव) और वाचक (से) हैं, किन्तु उपमेय (जो मुनि संग होने और शंभु सरासन को देखने वाला होने से 'राम' है—ऐसा लक्षित होता है) और धर्म का लोप है। अतः इस जगह उपमेय धर्म-लुप्तोपमा है।]

रूपक

उपमा में उपमेय और उपमान दोनों का अस्तित्व अलग अलग बना रहता हैं। यह अस्तित्व किसी सादृश्य, सूचक शब्द से प्रकट होता है। परन्तु जब उपमेय और उपमान का सादृष्यभाव मिट सा जाता है। और दोनों में एक रूपता हो जाती है तब रूपक *अलंकार होता है। रूपक में भी उपमा की भाँति, उपमेय और उपमान दोनों का कथन होता है; परन्तु वे दोनों एक ही समान बतलाये जाते हैं अर्थात् उपमा में उपमेय और उपमान में सादृश्य स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है, किन्तु रूपक में उस (सादृश्य) की ओर केवल संकेत होता है। जैसे,

राम-कथा सुन्दर कर-तारी;
संसय-विहँग उड़ावन हारी।

यहाँ 'राम कथा' और 'कर तारी, (हाथों से बजायी जाने वाली

---

* उपमेय रु उपमान जब एक रूप ह्वै जाहिं।

ताली) क्रमश: उपमेय और उपमान हैं। इन दोनों में समता इतनी अधिक बढ़ाकर दिखायी गयी कि ये दोनों एक रूप की-सी हो गयीं। अर्थात् राम की कथा ताली ही है। और यह एक-रूपता 'संशय' और 'विहग' में भी एक-रूपता स्थापित करके और भी सुन्दर बना दी गयी है। [इसका अर्थ है—राम की कथा कर की ताली है। वह संदेह रूपी पक्षियों को उड़ा देने वाली है। अर्थात् जैसे सामान्य ताली की ध्वनि से पक्षी उड़ जाते हैं, वैसे ही राम कथा सुनते ही संशय हट जाते हैं।]

ऊपर, 'राम-कथा' और 'कर-तारी' को क्रमश. उपमेय और उपमान बतलाया गया है और इन्हें 'रूपक' अलंकार के उदाहरण की भाँति प्रस्तुत किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि रूपक में वाचक धर्म-लुप्तोपमा की भाँति केवल उपमेय और उपमान का कथन होता है। परन्तु रूपक और वाचक-धर्म लुप्तोपमा के अन्तर पर ध्यान रखना चाहिए, नहीं तो दोनों को एक-सा समझ लेने की भयंकर भूल हो जायगी। इससे एक समान समझ पड़ने वाले उदाहरण से इन दोनों का भेद समझाने की चेष्टा की जायगी।

वाचक-धर्म-लुप्तोपमा का उदाहरण है—'चन्द्र-मुख'। इसमें उपमा इस कारण है कि यदि वाचक और धर्म अपनी ओर से मिलायें तो पूर्णोपमा के रूप में इसको यों बदल सकते हैं:—चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख"

रूपक का उदाहरण है 'मुख चन्द्र'। यदि इसमे भी समान और 'सुन्दर'—ये वाचक और धर्म मिलायें तो ऐसा रूप होगा—'मुख के समान सुन्दर चन्द्र'। ऐसा करने से उपमान (चन्द्र) का वर्णन मुख्य हो जायगा, परन्तु 'मुख-चन्द्र' मे उपमेय (मुख) का वर्णन ही मुख्य है।

अस्तु, रूपक और वाचक-धर्म लुप्तोपमा का अन्तर समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि—

रूपक में उपमेय शब्द पहले रखा जाता है और उपमान बाद में। जैसे मुख चन्द्र; नेत्र-कमल। परन्तु

वाचक-धर्म-लुप्तोपमा में उपमान पहले रखा जाता है, उपमेय बाद में। जैसे चन्द्र मुख; कमल-नेत्र।

रूपक के भेद

अभेद और तद्रूप

अभेद रूपक में उपमेय में उपमान से किसी प्रकार का भेद या अन्तर नहीं रखा जाता। दोनों में अभेदत्व सूचित किया जाता है। जैसे, 'द्रिूम-अधर अतीव मनोहर' में विद्रुम (उपमान) अधर (उपमेय) को एक रूप का-सा वर्णन किया गया है, दोनों मे अभेद माना गया है।

तद्रूप रूपक मे, अभेद रूपक की भाँति, उपमेय में उपमान से अभेदता नहीं स्थापित की जाती, प्रत्युत उपमेय को उपमान से भिन्न, किन्तु वैसा ही गुण, रूप, कार्यादि में दूसरा बतलाया जाता है। जैसे,

'अर्जुन द्वारा छोड़ा गया पाशुपत दूसरा पक्षधारी सर्प था।'

यहाँ पाशुपत और पक्षधारी सर्प में एकरूपता अवश्य स्थापित की गयी, लेकिन 'दूसरा' शब्द उपमान (सर्प) के पहले लगाकर उपमेय (पाशुपत) और उपमान (सर्प) की अभेदता नहीं होने दी गयी; इसके विपरीत उपमेय को उपमान के गुण, कर्म आदि में मिलते जुलते रूप का कहा गया है।(जैसे पक्षधारी सर्प उड़कर दंशन करता है, वैसे ही पाशुपत चलकर शत्रु के शरीर में चुभता है।) इसलिए यहाँ तद्रूप रूपक है।

तद्रूप रूपक में 'अपर' 'दूसरा' 'अन्य' 'इतर' 'द्वितीय' आदि वाचक शब्दों के सहारे उपमेय और उपमान की एक रूपता प्रकट की जाती है। जैसे,

(१) तू सुन्दरि दूजी शची, ये दूजे सुरराज।

(२) नैन कमल ये अपर हैं।
(३) तुव मुख अन्य निशेश है।

अभेद रूपक के भेद

उपमेय और उपमान के विविध अंगो की पूरी अथवा एकांगी एकरूपता स्थापित करने के उद्देश्य से रूपक(विशेपकर अभेद रूपक)के तीन भेद किये जाते है (१) सांग (सावयव),(२) निरंग (निरवयव) और (३)परम्परित।

सांग (सावयव) रूपक तव होता है जव उपमान के विविध अंगो का आरोप उपमेय के विविध अंगो पर सम्यक् रीति से किया जाता है तात्पर्य यह कि उपमेय के अनेक अंगों या अवयावों से उपमान के अनेक अंगो या अवयवों को मिलाकर दोनों मे पूर्ण रूप से अभेदता स्थापित की जाती है। जैसे,

उदित उदय-गिरि मंच पर, रघुवर वाल पतंग।
विकसे संत सरोज सव, हरषे लोचन भृङ्ग॥

नृपन्ह केर आशा-निसि नासी, वचन-नखत अवली न प्रकासी।
मानी महिप-कुमुद सकुचाने, कपटी भूप-उलूक लुकाने॥
भये विसोक कोक-मुनि देवा. . . . .

यहां राम को वाल सूर्य माना गया है। फिर यह वतलाया गया है कि जैसे सूर्य के उदय होने से विविध कार्य—कमल खिलना, भौंरों का गुंजारना, रात का वीतना आदि—होते हैं, वैसे ही राम के रंग मंच पर खड़े होने पर भी हुए। इस तरह उपमान (सूर्य) के अनेक अंगों का आरोप उपमेय (राम) पर किया गया। अत. रूपक को सांग अथवा सावयव वना दिया गया।

[इसका अर्थ यह है—उदयाचल रूपी मंच (सिंहासन) पर राम रूपी वाल-सूर्य (खड़े) दिखायी पड़े। (उनके ऐसा करने पर) सन्त रूपी

कमल खिल उठे, (उनके) नेत्र रूपी भौंरे प्रसन्न हुए। (सीता को प्राप्त कर लेने की इच्छा वाले) राजाओं की आशा रूपी रात नष्ट हो गयी उन्हीं राजाओं के) वचन रूपी तारागण मन्द पड़ गये (उनका वक-वाद करना वन्द हो गया), अभिमानी राजा रूपी कुमुद संकुचित हो गये, कपटी राजा रूपी उल्लू छिप गये और मुनि तथा देवता रूपी चक्रवाक दुःख-विहीन हो गये।]

इसी तरह इस उदहरण में अर्जुन और वादल में सांग रूपक है—

टंकार ही निर्घोष था, शर- जलवृष्टि कीवृष्टि थी।
जलती हुई रोषाग्नि से उद्दीप्त विद्युद्-दृष्टि थी
गाण्डीव रोहित रूप था, रथ ही सशक्त समीर था।
उस काल अर्जुन वीर-वर अद्भुत जलद गम्भीर था।।

[रोहित = इन्द्र धनुप। यहाँ उपमान (जलद) के विविध अंगों—गर्जन, जल वर्षण, विजली की चमक, इन्द्र धनुप और वर्षा के समय चलने वाली तेज हवा—का उपमेय (अर्जुन) के विविध अंगों--टंकार शर-वृष्टि, क्रोधपूर्ण दृष्टि, गाण्डीव और तेजी से चलता हुआ रथ पर उसी क्रम से आरोप किया गया है।]

निरंग (निरवयव) रूपक में उपमेय और उपमान की किसी प्रधान वशेषता का आरोप मात्र होता है, उसके सभी अंगों का नहीं। जैसे,

हैं शत्रु भी यों मग्न जिसके शौर्य पारावार में।

यहाँ पारावार के एक प्रधान गुण—मग्न होना—का ही शौर्यमें आरोप किया गया है।

इसी तरह

अवसि चलिय वन राम पहँ, भरत मन्त्र भल कीन्ह।
सोक-सिन्धु बूड़त सवहि, तुम अवलम्बन दीन्ह ॥—

में भी 'शोक' और 'सिन्धु' में अभेदत्व माना गया है। उपमान

(समुद्र) के केवल प्रधान गुण (उसमें डूबने) का आरोप उपमेय (शोक) में किया गया है।

परम्परित रूपक वहाँ होता है जहाँ एक रूपक की सार्थकता दूसरे रूपक पर आश्रित रहती है। अर्थात् जो रूपक प्रधान होता है उसका सार्थक होना किसी दूसरे अप्रधान रूपक पर निर्भर रहता है। कभी कभी एक प्रधान रूपक के कई अप्रधान रूपक आश्रय स्वरूप रहा करते हैं।

आगे लिखे उदाहरण में (राम की) कथा को तरणी (नौका) का रूप दिया गया है। यही प्रधान रूपक है। परन्तु कथा को नाव कहने की विशेषता तभी विदित होती है जब इस रूपक को 'संसार रूपी नदी'—यह दूसरा अप्रधान रूपक सहारा पहुँचाता है। इस प्रकार इसमें दो रूपकों की परम्परा (शृङ्खला) है।

कर कथा भव-सरिता तरनी।

इसी प्रकार

तृपित तुम्हारे दरस कारन चातुर चातक दास।
वपुष वारिद वरपि छवि-जल हरहु लोचन प्यास॥

में शरीर तथा बादल की, छवि तथा जल की अभेदता स्थापित की गयी है। इन्हीं पर दास और चातक की अभिन्नता का सौंदर्य निर्भर है यहाँ दो भेद रूपकों पर प्रधान अभेद रूपक आश्रित है। अतः परम्परित रूपक है।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के रूपकों के कुछ और उदाहरण नीचे दिये और जाते हैं:—

सांग

(१) नागरी गुनागरी वधू को अन्हवाई सूर,
चीर पहिराई हौंसि हुलसी-सुनन्दनै[१]।

१—हुलसी तनय, तुलसदास, ने।

कंचुकी प्रवीन१, कल ककन सु-केसोदास,
भूषन-विभूष्यो भूरि भूषन अमंद ने ॥
वेश वर बानक बनायो है विहारी वेस,
देव ने दिठोना दियो, अंजन घनन्द२ ने।
शंभु पग-नूपुर, नेवाज साज्यो जावक३ लै,
तौ लगि तमोल४ लै खवाई हरिचन्द ने॥

[यहाँ सूर, तुलसी, प्रवीण राय, केशवदास, भूषण, विहारीलाल, देव, घनआनन्द, शंभु, नेवाज, हरिश्चन्द्र—इन प्रसिद्ध हिन्दी कवियों के द्वारा नागरी (हिन्दी) कविता के विविध प्रकार से अलंकृत किये जाने का सांग रूपक है।]

(२) शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना, उज्ज्वल,
अपलक अनन्त, नीरव भूतल।
सैकत-शय्या पर दुग्ध-धवल,
तन्वङ्गी गङ्गा ग्रीष्म-विरल
लेटी हैं शान्त, क्लान्त, निश्चल।
तापस-बाला-सी गङ्गा कल,
शशि-मुख से दीपित मृदु- करतल
लहरे उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर,
लहराता तार—तरल सुन्दर
चञ्चल अञ्चल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर,

१—प्रवीण राय नाम की प्रसिद्ध कवियित्री जो केशवदास की शिष्या थी। २—घन आनन्द। ३—महावर। ४—पान

शशि की रेशमी-विभा से भर
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर ।

[यहाँ गंगा मे तपस्विनी का रूप-सादृश्य स्थापित किया गया है।]

आर्यक्षेत्रउर्वरा अमोघ फलदाई पाइ,
बोई जासु बीज वरदाई कवि चन्द[१] ने ।
पटपरि[२] कीन्ही सूर, तुलसी सुधारि सुठि,
मेड़ सी बनायी गंग, केशो रस-चन्द ने ।
सींच्यो रसखानि औ रहीम, अँकुराई देव,
पल्लवित कीन्ही है कविन्द कवि चन्द[३] ने ॥
कुसुमित कीन्ह्यो घन आनँद, विहारी 'ईश',
भाषा-बोलि सफलता बनायी हरिचन्द ने ॥

[यहाँ भाषा रूपी लता के अनेक कवियों के द्वारा पूर्ण रूप प्रदान किये जाने का सांग रूपक द्वारा वर्णन हैं ।]

जाहिरे जागत सी जमुना, जब बूड़ै वहै उमहै वह वेनी ।
त्यों पदमाकर हीर के हारन गंग तरंगन सी सुख देनी ॥
पायन के रँग सों रँग जाति सी भाँतिहि भाँति सरस्वति सेनी ।
पैरे जहाँई जहाँ वह वाल तहाँ तहाँ ताल में होत त्रिवेनी ॥

[यहाँ किसी सुन्दरी के सरोवर मे स्नान करते समय उसका त्रिवेणी से साम्य स्थापित किया गया है ।]

निरंग

(१) खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी ।

(२) उर अंकुरेउ गर्व-तरु भारी ।

१—कवि चन्द वरदाई । २—समतल, चौरस ।
३—श्रेष्ठकवि कवीन्द्र ने ।

परंपरित

(१) बलवती कुछ थी इतनी हुई, कुँवर प्रेम-लता उर-भूमि में।

(२) एकटक सब चितवहिं तेहि ओरा, रामचन्द्र मुख-चन्द्र चकोरा॥

(३) सोक-कनक-लोचन१ मति-छोनी,२

हरी, बिमलगुन-गन-जगजोनी३।

भरत-विवेक-बराह विसाला, अनायास उधरी तेहि काला॥

[शोक रूपी हिरण्याक्ष ने बुद्धि रूपी पृथ्वी को हर लिया था। उसको निर्मल गुण रूपी ब्रह्मा (की नासिका से उत्पन्न) भरत के विवेक रूपी आदि-वाराह ने विना प्रयास के मुक्त कर दिया।]

(४) चिन्तारूपी मलिन निशि की कौमुदी है अनूठी।
आशा मेरे हृदय-मरु की मंजु मंदाकिनी है॥

(५) घन बनूँ वरदो मुझे प्रिय!
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे दृग-व्योम में
सजल श्यामल मंथर मूक-सा
तरल अश्रु-विनिमित गात ले
नित घिरूँ झर झर मिटूँ, प्रिय!

उत्प्रेक्षा

जब उपमेय में उपमान से भिन्नता जानते हुए भी उसकी (अर्थात् उपमान की) सम्भावना की जाती है तब उत्प्रेक्षा४ अलङ्कार होता है।

उपमा में उपमेय और उपमान की समानता स्पष्ट दिखायी जाती है। रूपक में इन दोनों में एक-रूपता मान ली जाती है परन्तु उत्प्रेक्षा में

१—हिरण्याक्ष। २—पृथ्वी। ३—ब्रह्मा।

४—जहँ कीजे संभावना सो उत्प्रेक्षा जानि

समानता दिखाने का अभिप्राय होते हुए भी उसे निश्चयात्मक रीति से नहीं कहा जाता।

जैसे, 'मुख चन्द्रमा के समान है' (उपमा) में मुख और चन्द्रमा में सादृश्य माना गया है, 'मुख-चन्द्र' (रूपक) में मुख और चन्द्रमा में एक-रूपता स्थापित की गयी है; परन्तु 'मुख मानो चन्द्रमा है' (उत्प्रेक्षा) में मुख और चन्द्रमा में सादृश्य दिखाने का भाव है अवश्य' परन्तु यह सादृश्य निश्चित नहीं है।

जिस तरह उपमा के लिए वाचक शब्द होते हैं उसी तरह उत्प्रेक्षा के भी होते हैं। इसके कुछ वाचक शब्द ये हैं '—

मनु, मानो, जनु, जानहु, जानो, निश्चय, मेरे जान, इव।

जब इन वाचक शब्दों के प्रयोग के साथ उत्प्रेक्षा की जाती है तब वाच्या (अर्थात् वाचक से युक्त) उत्प्रेक्षा कहलाती हैं। जैसे 'परम धीर समीर प्रवाह था, वह मनो कुछ निद्रित था हुआ।' परन्तु जब वाचक शब्दों के बिना ही उत्प्रेक्षा होती है, तब प्रतीयमाना (जान पड़ने वाली) या गम्य उत्प्रेक्षा (गम्योत्प्रेक्षा) होती है। जैसे, 'कमलिनि देत उघार रवि मधुप निकासन काज' (अर्थात्) सूर्य कमलिनी का संपुट खोल देता है। किस लिए ? रात में उसके भीतर बन्द हुए भौंरो को उससे निकाल देने के लिए।) यहाँ रवि द्वारा कमलिनी के संपुट के खोले जाने के कारण की संभावना तो की गयी, परन्तु उसको कहते समय संभावना को सूचित करने वाला शब्द—अर्थात् उत्प्रेक्षा का वाचक—प्रकट रूप से नहीं कहा गया।

ऐसे ही, 'रोज अन्हात है छीरधि में ससि तो मुख की समता लहिवे को' में भी प्रतीयमाना या गम्योत्प्रेक्षा है।

उद्देश्य की दृष्टि से उत्प्रेक्षा के तीन भेद होते हैं :—

(१) जहाँ एक वस्तु की सम्भावना दूसरी वस्तु में की जाती है वहाँ वस्तु-उत्प्रेक्षा (वस्तूत्प्रेक्षा) होती है। जब कोई कार्य न होता हो और उसका होना-सा मान लिया जाता है तब भी वस्तूत्प्रेक्षा होती है।

(२) जहाँ अहेतु मे (कारण न होने पर भी) हेतु (कारण) की सम्भावना की जाती है वहाँ हेतु उत्प्रेक्षा (हेतुत्प्रेक्षा) होती है। और

(३) जहाँ जो फल (या उद्देश्य) नहीं होता उसे फल (या उद्देश्य) मानने की सम्भावना की जाती है वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है।

उदाहरणों के द्वारा उत्प्रेक्षा के ये तीनों प्रकार नीचे स्पष्ट किये जाते हैं:—

वस्तूत्प्रेक्षा

(१) उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उसका लगा।
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा॥

[यहाँ शरीर के काँपने-रूपी कार्य में सागर के जागने रूपी कार्य की सम्भावना की गयी है।

(२) कंचन रेख कसौटी कसी, जनु घन महँ दामिनी परगसी।

(३) सतानन्द-सिष सुनि पायँ परि पहिराई
माल सिय, पिय हिय सोभित सो भई है।
मानस ते निकसि बिसाल सु-तमाल पर,
मानहु-मराल-पाँति बैठी बन गई है॥

(४) लता भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ॥
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद पटल बिलगाइ॥

(५) सोनित-छींट छटान जटे तुलसी प्रभु सोहैं महा छबि छूटी॥
मानो मरकत सैल बिसाल ते फैलि चली वर वीरवहूटी।

(६) सोहै सितासित[1] को मिलिबो तुलसी हुलसै हिय हेरि हिलोरे
मानो हरे तृन चारु चरै बगरे सुरधेनु के धौल कलोरे[2]॥

१—(गंगा का) श्वेत (जल) तथा (यमुना का) असित—काला (जल)। २—धवल (श्वेत) बछड़े।

सूचना—उपर्युक्त सभी उत्प्रेक्षाओं में रूप, वर्ण आदि के सादृश्य के कारण विशेष मनोहरता आ गयी है।

हेतूत्प्रेक्षा

(१) पावकमय ससि स्रवत न आगी।
मानहु मोहिं जानि हत-भागी॥

[यहाँ चन्द्रमा से आग न मिलने का कारण, सीताजी, अपना हत-भागिनी होना कल्पित कर रही हैं।]

(२) दारिउँ सरि जो न कै सका, फारेउ हिया दरक्कि।

[यहाँ पद्मावती के दाँत की समता न कर सकने के कारण अनार के फटने की सम्भावना की गयी है। इसमे वाचक के अभाव से गम्योत्प्रेक्षा भी है।]

(३) उपमा हरि तन देखि लजाने।
कोउ जल में, कोउ वनहि रहे दुरि, कोऊ गगन उड़ाने।
मुख देखत ससि गयो अंबर को, तडित दसन छवि हेरे॥
मीन कमल कर चरन नयन डर जल मों कियो वसेरो।
भुजा देखि अहिराज लजाने, विवरन बैठे धाय॥
कटि निरखत केहरि डरि मानो बन विच रह्यो दुराय।

[श्रीकृष्ण के अंगों के डर के कारण ही उनके उपमान पृथ्वीतल को छोड़कर आकाश, पाताल या जल में छिप गये हैं—ऐसी संभावना 'सूरदास' ने उक्त पद मे की है। असल में चन्द्रमा या विजली आकाश मे रहते ही हैं। परन्तु कवि उनके ऐसा करने का हेतु मानता है कि वे श्रीकृष्ण के मुख और दाँतों के समान न हो सकने के कारण लज्जित होकर पृथ्वी मंडल पर अपना मुख नहीं दिखाते। इस प्रकार जो वास्तव में हेतु नहीं है उसे हेतु मानने से यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है। ऐसे ही, मीन और कमल के जल में, साँप के विल में और सिंह के जंगल में रहने का हेतु भी, जो वास्तव में ऐसा करने का हेतु नहीं है, कवि यहाँ वताता है कि उन्हें भी श्रीकृष्ण के अंगों

की समता करने का साहस नहीं होता। तभी वे भूमण्डल पर रहते ही नहीं।]

फलोत्प्रेक्षा

(१) चारु चरन नख लेखति धरनी।
नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी॥
मनहु प्रेम-वस विनती करहीं।
हमहिं सीय-पद जनि परिहरहीं॥

[यहाँ विछुओं के बजने में इस फल की कामना बतायी गयी है कि वे सीता के चरणों से अलग नही होना चाहते। यहाँ जिस फल की कामना की बात नहीं है—क्योंकि पैर हिलने से तो नूपुरों से आवाज होगी ही—उसकी सम्भावना नूपुरो के प्रति की गयी है। इससे इसमे फलोत्प्रेक्षा है।]

(२) नाना सरोवर खिले नव पंकजों को,
ले अंक मे विलसते, मन मोहते थे।
मानो प्रसार अपने शतशः करों को,
वे माँगते शरद से सुविभूतियाँ थे॥

[यहाँ कमलों के खिलने मे इस फल की कामना की गयी है कि वे शरद से विभूति चाहते हैं। इसमें जल से ऊपर निकले हुए विकसित कमलो और फैलाये हुए पंजे वाले हाथों मे रूपसादृश्य भी है। यह इस उत्प्रेक्षा की विशेषता है]

(३) पुहुप सुगन्ध करहि यहि आसा, मकु हिरकाइ लेइ हम पासा।

[पुष्प इस फल की आशा से सुगन्ध करते हैं कि कदाचित् (उस सुगन्ध के कारण) वह (पद्मावती) हमको अपने हृदय से लगा ले। यहाँ गम्योत्प्रेक्षा भी है।]

सूचना—हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा का अन्तर समझने के लिए

जिस वाक्य में उत्प्रेक्षा हो उसकी क्रिया की सबसे पहले परिक्षा करनी चाहिए। 'हेतु' का अर्थ होता है 'कारण' और 'फल' का तात्पर्य 'कार्य है। कारण सदैव कार्य के पहले होता है। इस बात को ध्यान में रख कर देखना चाहिए कि इनमे से कौन पहले होता है। यदि कारण पहले हो और कार्य बाद में, तो हेतूत्प्रेक्षा होगी। (जैसे, पावकमय ससि स्रवत न आगी'—इस कार्य का हेतु है 'मोहि जानि हत भागी।') और यदि कार्य का होना किसी परिणाम की इच्छा से दिखलाया जाय तो फलोत्प्रेक्षा होगी। (जैसे, 'पुहुप गन्ध करहि'—किस आशा' से ? (किस फल की कामना से ?) 'मकु हिरकाइ लेइ हम पासा।,) अर्थात् यदि क्रिया का व्यापार किसी कारण से हुआ हो तो हेतूत्प्रेक्षा समझनी चाहिए, और यदि वह किसी परिणाम की इच्छा से किया गया हो तो फलोत्प्रेक्षा।

दृष्टान्त

उपमा तथा उत्प्रेक्षा में (१) उपमेय तथा उपमान-सूचक दो शब्द होते हैं। (२) उनके धर्म में समता होती है या होती सी है, और (३) इस समता को सूचित करने वाले वाचक शब्द होते हैं। परन्तु इन तीनो बातों के विपरीत जब (१) उपमेय और उपमान दो भिन्न-भिन्न वाक्य हों, (२) दोनों वाक्यो के धर्म भी अलग- अलग हो, लेकिन जान ऐसे पड़ते हो जैसे समान ही है और (३) इस समता के दिखाने के लिए वाचक शब्द न हो, तब दृष्टान्त अलकार होता है। अर्थात् दृष्टान्त अलङ्कार मे उपमेय और उपमान वाक्यों तथा उनके साधारण धर्म मे (धर्म की विभिन्नता होते हुए भी) विम्बप्रतिविम्ब भाव-सा जान पड़ता है—समता-सी जान पड़ती है।

इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि दृष्टान्त के लिए ये बातें आवश्यक हैं—

(१) पहले किसी वाक्य में कोई बात कही जाय;

(२) फिर दूसरे वाक्य में उससे मिलती जुलती-सी जान पड़ने वाली भिन्न वात कही जाय;

(३) दूसरा वाक्य पहले की समता करने के लिए हो, परन्तु यह समता किसी वाचक शब्द के द्वारा प्रकट न की जाय; और

(४) दोनों वाक्यों की समता किसी ऐसी विशेषता के आधार पर न कीजाय जो दोनो में पायी जाती हो ;

जैसे,

पापी मनुज भी आज मुँह से राम नाम निकालते ।
देखो, भयंकर भेड़िये भी आज आँसू डालते ॥

इसमे (१) पापी मनुज भी आज मुँह से राम नाम पुकारते—उपमेय वाक्य है

(२) भयंकर भेड़िये भी आज आँसू डालते—उपमान वाक्य है;

(३) दूसरे वाक्य मे पहले के भाव की समता सी जान पड़ती है, परन्तु वास्तव में है नहीं। और इस समता को प्रकट करने के लिए कोई वाचक शब्द नहीं आया।

और (४) पहले वाक्य का साधारण धर्म है—राम नाम निकालना; तथा दूसरे का है—आँसू डालना । ये दोनां साधारण धर्म भिन्न-भिन्न है ।

अत. यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है ।

इसी तरह

पगी प्रेम नँदलाल के हमै न भावत जोग ।
मधुप, राजपद पाय के भीख न माँगत लोग ॥

मे भी (१) पहली पंक्ति मे—उपमेय वाक्य है, (२) दूसरी में उपमान वाक्य है, (३) दूसरा वाक्य पहले के से भाव का जान पड़ता है, पर है नहीं और दोनों की समता को सूचित करने वाला कोई शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ; तथा (४) पहले का साधारण धर्म

है—जोग न भाना और दूसरे का—भीख माँगना । ये दोनों समान नहीं है । इन सब बातों के होने से यह भी दृष्टान्त का उदाहरण है ।
इस अलङ्कार के कुछ और उदाहरण—

(१) रहिमन आँसुवा नैन ढरि, जिय-दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ ?
(२) भरतहि होइ न राजमद बिधि हरि हर पद पाइ ।
कबहुँ कि काँची सीकरनि छीर-सिंधु बिलगाइ ।
(३) तुलसी मिटै न मरि मिटहु साँचो सहज सनेह ।
मोरसिखा बिनु मूरि हू पलुहत गरजत मेह ॥
[मोर सिखा—एक जड़ी । यह बरसात में अपने आप पनप उठती है । इसमें जड़ नहीं होती ।]
(४) नीच निचाई नहीं नहिं तजै सज्जन हू के संग ।
तुलसी चंदन बिटप बसि बिनु बिष भये न भुअंग ॥

अर्थान्तरन्यास

जैसा बतलाया जा चुका है, दृष्टान्त में दो वाक्य होते हैं । उनके भाव भिन्न होते हुए भी मिलते-जुलते-से जान पड़ते हैं । इसी से उनकी समता-सी विदित होती है । इसके विपरीत, जब किसी बात को कहकर उसकी पुष्टि किसी दूसरी बात से की जाती है तब अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है । इसमें प्रस्तुत अर्थ का समर्थन अप्रस्तुत अन्य अर्थ (अर्थान्तर) को स्थापित (न्यास) करके किया जाता है ।

अर्थान्तरन्यास दो तरह से होता है: (१) कभी किसी विशेष बात का (जो एक ही पदार्थ या व्यक्ति से सम्बन्ध रखती है) समर्थन सामान्य से (जो साधारणत: एक वर्ग के बहुत से पदार्थों या व्यक्तियों पर लागू होती हैं) किया जाता है; और (२) कभी किसी सामान्य की पुष्टि विशेष बात से की जाती है । यथा,

विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन

(१) मैं यह नहीं कहती कि रिपु से जीवितेश लड़े नहीं
तेजस्वियों की आयु भी देखी भला जाती कहीं ?

[यहाँ—पति को लड़ने से मना न करना—इसविशेष का समर्थन तेजस्वियों की आयु का विचार न किया जाना इससामान्य सत्य के द्वारा किया गया है।]

(२) सागर निस्रत विष पी शंकर हुए देव दुखहारी।
परहित करने का व्रत रखते सज्जन पर उपकारी॥

यहाँ भी पहली पंक्ती में कथित विशेष बात का समर्थन दूसरी पंक्ति में वर्णित साधारण तथ्य से किया है।

(३) हरि प्रसाद गोकुल बच्यो, का नाहिं करत महान ?

[यहाँ इन्द्र के कोप से गोवर्धन उठाकर कृष्ण के व्रज की रक्षा करने वाले महत्वपूर्ण कार्य की ओर संकेत है।]

(४) फिर व्यूह भेदन के लिए अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो।
क्या वीर बालक शत्रु का अपमान सह सकते, कहो ?

सामान्य का विशेष के द्वारा समर्थन

(१) जिसके पाने से सुख मिलता, उसके जाने से दुख होता।
सूर्य रश्मि से सरसिज खिलता, उसके बिना संकुचित होता॥

[यहाँ पहली पंक्ति में जो सामान्य तथ्य कहा गया है; उसका समर्थन दूसरी पंक्ति में कहे हुए विशेष सत्य के द्वारा किया गया है।]

(२) माँगे घटत, रहीम, पद कितौ करौ बढ़ काम।
तीन पेग वसुधा करी, तऊ बावनै नाम॥

[यहाँ भी पहली पंक्ति में जो सामान्य बात कही गयी है उसकी पुष्टि दूसरी पंक्ति में कही हुई विशेष बात से की गयी है। दूसरी पंक्ति में राजा बलि को छलने के लिए विष्णु के बावन अंगुल का रूप धारण कर तीन पग में तीनों लोक नापने की घटना की ओर संकेत है।]

(६)............................समय } फिरे रिपु होहि पिरेते ।
भानुकमल कुल पोसन हारा, बिनु जर जारि करै सोइ छारा।
(४) बड़े न हूजे गुगन बिनु बिरद बड़ाई पाय।
कनक धतूरे सों कहत गहनो गढ़ो न जाय॥

भ्रान्तिमान्

कभी कभी किसी वस्तु को असावधानी से देखने के कारण उसको कोई दूसरी वस्तु मान लिया जाता है। ऐसी भूल को 'भ्रम' कहते हैं। जैसे, यदि अँधेरे में रस्सी को देखकर उसे साँप समझ लिया जाय, तो यह मानसिक क्रिया 'भ्रम' कहलायेगी। इसी तरह, जब उपमान वास्तव में उपमेय के समान न हो, परन्तु भूल से वह उपमेय ही समझ लिया जाता है तब भ्रान्तिमान् अलंकार होता है। अर्थात् आभासमात्र के सहारे उपमेय को उपमान समझने की निश्चित धारणा होने पर ही भ्रान्तिमान, या 'भ्रम' होता है। जैसे,

बिल विचारकर नाग-शुन्ड मे घुसने लगा विशैला साँप।
काली ईख समझकर विषधर उठा लिया हाथी ने आप॥

यहाँ हाथी की सूँड़ के छेद को, जो वास्तव मे बिल नहीं है, बिल समझकर साँप उसमें घुसने का प्रयास करने लगता है। उसमें उसको बिल का 'भ्रम' हो जाता है उधर हाथी को 'भ्रम' हो जाता है कि सामने काला गन्ना पड़ा है। इससे वह मुँह मे डाल लेने के लिए उसे उठा लेता है अत. यहाँ साँप और हाथी दोनो के असत्य पदार्थ को सत्य समझ लेने के कारण भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

इसी प्रकार नीचे लिखे उद्धरणों मे भी भ्रान्तिमान् है:—

नाक का मोती अधर की कान्ति से—
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से

देख उसको ही हुआ शुक मौन है।
सोचता है अन्य शुक यह कौन है!

(२) सर चारिक चारु बनाइ कसे कोटि,
पानि सरासन सायक है।
बन खेलत राम फिरैं मृगया,
तुलसी छवि सो बरने किमि कै॥
अवलोकि अलौकिक रूप मृगी,
मृग चौंकि चकैं चितवैं चित दै॥
न डगै, न भगैं जिय जानि सिलीमुख,
पंच धरे रति-नायक है॥

सन्देह

कभी कभी किसी वस्तु को देखकर उसके असली रूप का निश्चय नहीं हो पाता, दुविधा बनी रहती है। इस मानसिक दशा को 'सन्देह' कहते हैं 'भ्रम' की दशा में किसी वस्तु को दूसरी वस्तु होने का निश्चय सा हो जाता है; परन्तु 'सन्देह' में यह निश्चय नहीं हो पाता कि वह वास्तव में है क्या?

इसी प्रकार, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, भ्रान्तिमान् अलङ्कार में उपमेय और उपमान के सादृश्य के आभास को सादृश्य समझ लिया जाता है। और तब उपमेय को ही उपमान मान लिया जाता है जब उपमेय की वास्तविकता के विषय में दुविधा उपस्थित हो जाती है, और यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि उससे मिलते जुलते उपमान या उपमानों में से वह कौन सा है तब संदेह* अलङ्कार होता है।

---

*रहु विधि बरनत वर्ण्य को, नियत न तथ्य अतथ्य।
अलङ्कार सन्देह तहँ बरनत हैं मति पथ्य॥

सन्देह अलङ्कार में उपमेय वर्ण, रूप आदि में उपमा तथा उपमानों से मिलता जुलता दिखाया जाता है, पर निश्चय रूप से यह नहीं बताया जाता कि उनमें से वह है कौन; उसमें उन सब के होने की सम्भावना द्विविधात्मक शब्दों के द्वारा प्रकट की जाती है।

सन्देह में चार बातें होती हैं—
पहले (१) कोई वस्तु देखी जाती है—उपमेय,

(२) उसमें अन्य वस्तु या वस्तुओं के से रूप, वर्ण और गुण का आभास दिखायी पड़ता है—उपमान
इसमें (३) वह (उपमेय) वे सभी (उपमान) हैं—इस बात की सम्भावना की जाती है
परन्तु (४) स्पष्टतया निश्चय नहीं किया जा सकता कि वह (उपमेय) उस (उपमान) या उन (उपमानों) में से कौन है।

धौं, कैधौं' कै, अथवा' या, आदि वाचक शब्दों के द्वारा सन्देह प्रकट किया जाता है।

सच पूछा जाय तो यहाँ उपमेय में उपमानों की समता का सन्देह वास्तविक नहीं होता, केवल कल्पित होता है। जैसे,

अर्ध-चन्द्र को देखकर उसके आकार से मिलती जुलती कई वस्तुएँ ध्यान में आ जाने से उसमें उन सबका आरोप होने लगता है, पर यह निश्चय नहीं हो पाता कि वह असल में उनमें से कौन है?

रहो सुवर सुधांशु बंकिमा संशोभित ससि।
तू मोहिं करत सशंक आजु अति रैन अंक बसि॥
व्योम पंक प्रस्फुटित सेत-सरसिज-दल है तू!
कै कोई आनंद कंद नंदन[१] फल है तू!

१—इन्द्र के कानन का नाम।

दिसि-भामिनी भ्रू-भंग, काल कामिनी-निहंग[1] असि,
के अनंग-झष[2] लसत चपल निसि के उछंग[3] वसि !
सप्तऋषिन कौ व्यवहृत चक्राकृति तर्पण कुश,
किधौं अभ्र[4]-पथ पतित शुभ्र मघवा-इभ[5] अंकुश !

यहाँ पर वंक-मयंक को देखकर यह निश्चय नहीं हो पाता कि वह श्वेत कमल का दल है, या नन्दन बन का कोई फल है, या दिग्भामिनि की भौंह की टेढ़ाई है, या काल सुन्दरी की तलवार है, या कामदेव का मत्स्य है, या सप्तर्षियों का कुश है, या ऐरावत को चलानेवाला अंकुश है। इन सबका सन्देह उसमें वर्ण या आकार की समता के कारण किया जाता है :—

नीचे 'सन्देह' के कुछ अन्य उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) दायाँ हाथ लिये था सुरभित चित्र विचित्र सुमन माला।
टाँगा धनुप कि काम-लता पर, मनसिज ने झूला डाला !

(२) कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है, कि।
श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है !
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है, कि
राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है !
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है, कि
तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है !
काली पाटियों के बीच मोहनी की माँग है, कि
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है !

अत्युक्ति

जब वर्णन में रोचकता लाने के उद्देश्य से किसी के विषय में खूब

१—एकमात्र, अकेला। २—कामदेव की मछली। ३—गोद। ४—आकाश। ५—इन्द्र का हाथी, ऐरावत।

चढ़ा चढ़ाकर ऐसी बातें कही जाती हैं जो प्राय असम्भव होती हैं तब अत्युक्ति अलङ्कार * होता है।

यद्यपि किसी भी बात का असम्भव की सीमा तक पहुँचा हुआ वर्णन अत्युक्ति कहा जा सकता है, फिर भी केवल वीरता, सुन्दरता, उदारता कीर्ति, वियोगावस्था और प्रेम की दशा का ऐसा वर्णन होने पर उसमें 'अत्युक्ति' अलकार माना जाता है। जैसे,

वीरता की अत्युक्ति

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
मरजा शिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नद मद गैवरन के रलत हैं॥
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठैल पैल सैल उखरत हैं।
तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत हैं॥

यहाँ शिवा जी की सेना के प्रस्थान करने पर उसके फल का बहुत चढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया गया है। सेना मे चाहे कितने ही अधिक हाथी क्यों न हों, वे चाहे कितने ही अधिक मतवाले क्यों न हो, उनके मद की नदियाँ और नद नहीं बह सकते, न उन हाथियों के धक्कों से पहाड़ उखड़कर गिर सकते हैं; न सम्पूर्ण संसार मे किसी सेना के चलने पर खलभली मच सकती है—खलभली मच सकती है तो केवल शत्रुओं के प्रान्त मे, सारे संसार से क्या प्रयोजन ?—न उस सेना के चलने पर इतनी धूल ही उड़ सकती है कि उससे सूरज छिप जाय और न उसके चलने की धमक लगने से समुद्रों का जल ही हिलने लग सकता है।

---

*अलकार अत्युक्ति यह बरनन अतिशय रूप

परन्तु ये सब असंभव बातें यहाँ भूषण कवि ने संभव करा दी हैं। इसका कारण केवल यह है कि उन्हें शिवाजी की सेना के शौर्य और आतंक का प्रभावशाली रीति से प्रदर्शन करना था अस्तु, यहाँ वीरता के वर्णन में असम्भव को सम्भव कर दिखाया गया है—इससे अत्युक्ति अलङ्कार है।

इसी तरह, शिवाजी की सेना के धक्के से पृथ्वी के नीचे स्थित कच्छप की पीठ टूटते एवं शेषनाग के फणों के टूक-टूक हो जाने से नीचे की उक्ति में उसकी सूरता के वर्णन में असम्भव को सम्भव कर दिखाया गया है—

दल के दरान ते कमठ करारे फूटे,
केरा के से पात बिहराने फन सेस के

अत यहाँ भी अत्युक्ति अलङ्कार है।

केशवदास ने अश्वमेध के समय दिग्विजय के निमित्त गयी हुई राम की सेना की शूरता दिखाने में भी ऐसी ही अत्युक्ति की है—

नाद पूरि धूरि पूरि, तूरि वन, चूरि गिरि,
सोखि-सोखि जल भूरि-भूरि थल गाथ की।
मुद्रित समुद्र सात, मुद्रित निज मुद्रा कै,
आयी दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की।

यहाँ भी सेना के द्वारा संपूर्ण दिशाओं (संसार) का धूल से भर जाना, जंगलो का तोड़ा जाना, पहाड़ो का चूर-चूर किया जाना एवं समुद्रादि के जल को सुखाकर थल बना डालना—ये असम्भव कार्य सम्भव करा डाले गये हैं।

सुन्दरता की अत्युक्ति

सीताजी की सुन्दरता की समता से लिए लोक प्रसिद्ध सुन्दर स्त्रियों को उचित न समझकर तुलसीदास कहते हैं—

जौं छवि-सुधा-पयोनिधि होई. परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदर सृङ्गारू, मथै पानि पङ्कज निज मारू।

यहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥

यहाँ छवि के समुद्र, रूप के कच्छप, सौन्दर्य के रस्सी, शृङ्गार के मंदराचल होने तथा स्वयं कामदेव के मथने की असम्भव बातें, कवि ने सीताजी की सुन्दरता की अत्यधिक व्यंजना करने के लिए, सम्भव-सी की हैं। इससे यहाँ अत्युक्ति अलङ्कार है।

कहीं कोई स्त्री इतनी कोमल नहीं हो सकती कि उसकी सुन्दरता ही उस पर बोझ हो जाय। ऐसा कहने का उद्देश्य केवल उनकी सुन्दरता का आधिक्य प्रकट करना होता है। तभी कवि के इस कथन में अत्युक्ति है—

भूषन भार सँभारिहै क्यों यह तन सुकुमार?
सूध पायँ न धर* परत सोभा ही के भार॥

उदारता की अत्युक्ति

जाचक तेरे दानतेभये कलपतरु भूप।

किसी राजा की दानशीलता की प्रशंसा में कहा गया कि हे महाराज, तुम्हारे दान को पाकर भिखारी कल्पवृक्ष हो गये—वे स्वयं इतने सम्पन्न हो गये कि उनसे जिस किसी वस्तु की इच्छा की जाय वह प्राप्त हो सकती है। किसी व्यक्ति का कल्पवृक्ष हो जाना सम्भव नहीं;पर यहाँ उदारता का अत्यन्त उत्कर्ष प्रकट करने के लिए भिखमंगों का कल्पवृक्ष हो जाना सम्भव कर दिया गया है।

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत बिलंब उर धारै ना।
कहै पद्माकर सु-हेम, हय, हाथिन के,
हलके हजारन को बितर बिचारै ना॥

---

*धरा, पृथ्वी।

दीन्हे गजबकस महीप रघुनाथराव,
पाय गज धोखे कहूँ काहू देह डारै ना।
याही डर गिरजा गजानन को गोय रही,
गिरि ते गरे ते निज गोद मे उतारै ना॥

यहाँ रघुनाथराव के हाथियों के दान देने के स्वभाव की महिमा वर्णन करते समय यह असम्भव बात सम्भव-सी कर दिखायी गयी है कि वह गणेशजी को, हाथी जैसी सूँड़ होने के कारण हाथी ही समझ कर किसी याचक को दे सकता था। इसी से डर कर, पार्वतीजी उनको अपनी गोद से या कैलाश पर्वत से उतरने नहीं देती।

कीर्त्ति की अत्युक्ति

रामचन्द्र की कीर्त्ति अपरिमित ऐसी रम्य सुहाती है।
भूतल की क्या ? भुवनों, लोकों तक में नहीं समाती है॥

यहाँ कीर्त्ति को अपरिमित बताया गया है। वह चौदहों भुवनों और तीनों लोकों तक मे नहीं समा सकती। ऐसा होना सम्भव नहीं पर इसे सम्भव कर दिखाने से यह कथन अत्युक्ति अलङ्कार की सृष्टि करता है।

वियोगावस्था की अत्युक्ति।

'संकर' नदी, नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अंबर ते ऊँची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव-छोरन लौं पल मे पिघल कर,
घूम घूम कर धरनी-धुरी सी बढ़ि जायगी।
झारैंगे अँगारे ये तरनि, तार, तारापति,
जारैंगे, ख-मंडल मे आग मढ़ि जाइगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहि,
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ि जायगी

यहाँ वियोगावस्था की अधिकता दिखाने के लिए किसी वियोगिनी

की आह में उस प्रभाव की सम्भावना की गयी, जो सम्भावना हो ही नहीं सकता कि उसकी ज्वाला से नदियों, नदों और समुद्रों का जल सूख जायगा, पृथ्वी पिघलकर धुरी के समान लंबी हो जायगी, सूर्य, चन्द्र और तारों से भी अंगार गिरने लगेंगे और सारी सृष्टि नष्ट हो जायगी।

इसी तरह वियोगिनी के आँसुओं का प्रभाव देखिए—

गोपिन के अँसुवन भरी सदा असेस अपार।
डगर डगर नै[1] ह्वै रही वगर[2] बगर के वार[3]॥

श्री कृष्ण के वियोग के कारण गोपियों के नेत्रों से निकले हुए आँसुओं की नदी ब्रज की गली-गली में घर-घर के द्वार-द्वार वह रही है। कभी आँसुओं की नदी का होना सम्भव नहीं हो सकता, पर यहाँ वियोगाधिक्य की व्यञ्जना करने के लिए ऐसा होना सम्भव कर दिखाया गया है।

प्रेम-दशा की अत्युक्ति

किसी प्रेमिका के हृदय में उसके प्रियतम का प्रेम इतना अधिक है। कि वह उसे शब्दों के द्वारा, कह या लिखकर व्यक्त करने में असमर्थ है। परन्तु उसे उसके अपने प्रेम का हाल भिजवाने की इच्छा है। इससे वह संदेश ले जाने वाली सखी को बुलाती है; और यह कहकर भेजती है कि जा तू उनके सामने मूकवत खड़ी हो जाना। तुझे देखकर ही वे मेरे हृदय की बात समझ जायँगे—उसमें इतना प्रेम है कि प्रकट नहीं किया जा सकता—

कागद पै लिखत न बनत, मुख पै कह्यो न जाय।
कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात॥

कहीं हृदय में ऐसी शक्ति नहीं होती कि वह बोलकर अपनी

१—नदी। २—घर-घर। ३—द्वार।

भावना व्यक्त कर सके। बोलने का काम तो जिह्वा का है। यहाँ इस असम्भव बात को सम्भव किया गया है—हृदय से कहलाया गया है। इससे यहाँ अत्युक्ति है।

उभयालंकार

अब तक जिन शब्द और अर्थ सम्बन्धी अलङ्कारों का परिचय दिया गया है उनकी सहायता से पिछले पृष्ठों में उद्धृत विविध अलङ्कारों के उदाहरण दिये गये हैं। उनमें बहुत से ऐसे मिलेंगे जिनमें एक साथ एक से अधिक अलंकार होंगे। जिस स्थल पर किसी अलङ्कार का वर्णन किया है वहाँ उसकी विशेषताओं को स्पष्ट करने का ध्यान रखकर ही उद्धरण दिये गये हैं, परन्तु कवि तो मुख्य रूप से अलङ्कार विशेष का ध्यान रखकर रचना नहीं करते। इसी से उसमें प्रायः कई अलङ्कार आ जाया करते हैं। (१) कभी कभी किसी कथन में कई शब्दालङ्कार एक साथ विद्यमान होते हैं. (२) कभी कई अर्थालङ्कार और (३) कभी कुछ शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों। इस तरह एक ही वाक्य या छन्द में, एक से अधिक प्रकार के अलङ्कार होते हैं। उस समय उसमें उभयालङ्कार माना जाता है। जैसे,

(१) दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साँईहि न भूल।
दई-दई क्यों करत है ? दई दई सु कबूल॥

[दई दई = हा दैव ! हाय भगवान ! दई = दैव; दई = दिया है।] यहाँ छेकानुप्रास और यमक—इन दो शब्दालङ्कारों का सम्मिलन है।

(२) वंदउँ गुरु-पद-पदुम-परागा।
सुरुचि सुवास-सरस अनुरागा॥

इसमें वृत्यानुप्रास और परम्परित रूपक— ये दो भिन्न-भिन्न वर्गों के अलंकार हैं।

पिंगल

हमारे देश में, बहुत प्राचीन काल से, कविता पद्य में ही लिखी जाती है। इस बहुत दिन के और घनिष्ट सम्बन्ध के कारण कुछ लोग भ्रम से पद्य और कविता को एक दूसरे का पर्याय समझते हैं। इसी कारण वे कविता का पद्य में रचा जाना अनिवार्य-सा मानते हैं। यद्यपि कविता के लिए सब आवश्यक लक्षण होने से गद्य में कही गयी बात भी कवित्व-पूर्ण कही जा सकती है, तथापि पद्यबद्ध होने से उसमें अधिक सुन्दरता आ जाती है—यह निश्चित है। इसी लिए कविता और पद्य का सम्बन्ध अविच्छिन्न-सा है। जब मात्रा, वर्ण-संख्या, विराम, गति या लय तथा तुक आदि के नियमों से युक्त रचना होती है तब उसे पद्य कहते हैं।

'पद्य' और 'छन्द' समानार्थक शब्द हैं। इसी लिए जिस शास्त्र में पद्य-रचना के नियमों, पद्यों के नाम, लक्षण, भेद आदि विषय का विचार किया जाता है उसे छन्द शास्त्र कहते हैं।

संस्कृत में छन्द शास्त्र के सबसे पहले रचयिता भगवान् शेष के अवतार पिङ्गलाचार्य माने जाते हैं। उनका बनाया हुआ 'पिङ्गल-छन्दः शास्त्र' इस विषय का पहला ग्रन्थ है। अतः इस शास्त्र के प्रवर्तक के नाम से इसे 'पिङ्गलशास्त्र' भी कहते हैं। पिङ्गल-कृत छन्दःशास्त्र सूत्र रूप में लिखा गया है। उसमें आठ अध्याय हैं। उसके आधार पर 'अग्नि पुराण' में इस विषय का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। आगे चलकर अनेक ग्रन्थों में इस विषय का अधिक विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। हमारी भाषा संस्कृत से ही विकसित हुई है। इससे अन्य अगणित वस्तुओं की भाँति, दाय रूप में, हमें उसी से पिङ्गल-शास्त्र का नाम, उसके अन्तर्गत अनेक छन्दों के नाम, लक्षण आदि भी मिले हैं। इस प्रकार यद्यपि संस्कृत के बहुत से छन्द हिन्दी में स्वीकृत हुए हैं, फिर भी उसके निजी छन्दों की संख्या भी कम नहीं है। यहाँ संक्षेप में, पिङ्गल-सम्बन्धी कुछ मुख्य-

मुख्य विषय एवं हिन्दी में अधिक व्यवहृत कुछ प्रसिद्ध छन्दों का परिचय दिया जायगा।

चरण—प्रत्येक छन्द में चार 'चरण' आवश्यक होते हैं इन्हें 'पद' या 'पाद' भी कहते हैं। 'चरण' की रचना वर्णों (अक्षरों) या मात्राओं की संख्या और उनके नियमित प्रयोग के अनुसार हुआ करती है कुछ ऐसे छन्द भी होते हैं जिनमें होते तो हैं, चार 'चरण' पर लिखने में वे दो ही पंक्तियों में आ जाते हैं। (जैसे, दोहा, सोरठा, बरवै आदि)। ऐसे छन्दों की प्रत्येक पंक्ति को 'दल' कहते हैं। कुछ छन्दों में छ चरण भी होते हैं। यथा, छप्पय, कुण्डलिया।

जिस छन्द के पदों में वर्णों की संख्या का नियम रहता है उसे 'वर्णवृत्त' कहते हैं और जिसमें 'मात्राओं' का नियम रहता है उसे 'मात्रिक'। मात्रिक छन्द का दूसरा नाम 'जाति' है। यह दोहा स्मरण रखने से 'वर्णवृत्त' और 'मात्रिक छन्द' की पहचान सुगम हो जयगी—

गुरु लघु चारों चरण में क्रम से मिले समान—
वर्ण वृत्त है। अन्यथा मात्रिक छन्द प्रमान।

परन्तु कुछ वर्ण-वृत्त ऐसे भी हैं जिनके चरणों में वर्णों की संख्या का ही नियम होता है, गुरु लघु के क्रम का नहीं। जैसे, कवित्त। इस के प्रत्येक चरण में १६, १५ वर्णों के विराम से कुल ३१ वर्ण होते हैं।

गति—प्रत्येक छन्द में मात्राओं या वर्णों की नियमित संख्या होने से ही काम नहीं चलता। उसमें एक प्रकार का प्रवाह (बहाव) भी होना चाहिये, जिससे पढ़ने में कहीं रुकावट सी न जान पड़े। इस प्रवाह को 'गति' कहते हैं। जैसे,

भू में रमी शरद की कमनीयता थी।
नीला अनन्त नभ निर्मल हो गया था॥

इसको पढ़ते समय जिह्वा को 'चरण' के बीच में कहीं पर रुकना नहीं पड़ता इसी कारण इसमें गति है। इसके विपरीत, यदि इसे कुछ परिवर्तित

करके यों पढ़े—'भू में शरद की कमनीयता रमी थी, अनन्त नीला नभ निर्मल हो गया था, तो इसकी गति ठीक न रहेगी। इस तरह की उक्ति को गद्य कहा जायगा।

यति—बहुत से छन्दों में बहुधा चरण के किसी स्थल पर रुकने या विराम की भी आवश्यकता होती है। इसके लिए नियमित वर्णों या मात्राओं पर थोड़ी देर के लिए रुकना पड़ता है। इस रुकने की क्रिया को

SSISSSI I I S

'यति' 'विराम' या 'विश्राम' कहते हैं। जैसे, 'देते हुए आनन्द सब को।

SI IISS IS

तेज दिखलाते हुए, में १६ मात्राओ (मात्रा की व्याख्या नीचे की गयी है पर यति पड़ती है। परन्तु यदि ठीक स्थल पर पड़े—इसके लिए आवश्यक है कि जहाँ यति पड़ने का नियम हो वहाँ कोई शब्द पूरा पड़े, उसका कोई अंश

IISIIIIISIIISIIISIISIS

न पड़े। जैसे, 'निज-पानि-मनि महुँ देखि प्रतिमूरति सरूप निधान की' में 'हरिगीतिका' छन्द के नियमों के अनुसार सोलहवी मात्र पर विराम पड़ना चाहिए। सोलहवी मात्रा 'प्रतिमूरति' शब्द के तीसरे वर्ण 'मू' पर पड़ती है। अतः यही विराम होना चहिए। लेकिन यह विराम 'प्रतिमूरति' शब्द के बीच मे ही पड़ रहा है। यह ठीक नहीं। अत. यहाँ यति भंग हो गया, जो दोष हैं।

मात्रा—लघु, गुरु—किसी 'स्वर' वर्ण के उच्चारण मे जो समय लगता है उसकी अवधि को 'मात्रा' कहते है। 'मत्ता' 'मत्त' 'कला' 'कल' ये मात्रा के पर्याय वाचक शब्द है।

१—यदि किसी 'व्यंजन' वर्ण मे (अ, इ, उ, ऋ और लृ मे से कोई) ह्रस्व स्वर मिला हो तो उसे 'लघु' कहते है। और (२) यदि किसी 'व्यंजन' वर्ण मे (आ, ई, ऊ, ॠ, ए ऐ, ओ और औ मे से कोई) दीर्घ स्वर संयुक्त होता है तो उसे 'गुरु' कहते है।

छन्द:शास्त्र में 'ह्रस्व' स्वर 'लघु' और 'दीर्घ' स्वर 'गुरु' माने जाते हैं। ह्रस्व स्वरों को 'लघु वर्ण' और दीर्घ स्वरों को 'गुरु वर्ण' कहते हैं। लघु वर्ण की एक मात्रा और गुरु की दो मात्राएँ मानी जाती हैं।

लघु गुरु के चिह्न और नियम—छन्द:शास्त्र में 'लघु' और 'गुरु' के संकेत, इन दोनों शब्दों के पहले अक्षर, क्रमशः 'ल' और 'ग' माने जाते हैं। साथ ही, लघु का संकेत चिह्न । यह माना गया है और गुरु का S यह।

ह्रस्व स्वरों वा उनके मेल से बने हुए व्यंजनों की मात्राएँ गिनने में कठिनाई नहीं पड़ती। दीर्घ स्वरों दीर्घ व्यंजनों के विषय में भी कठिनाइ नहीं होती। ह्रस्व स्वरों या उनके मेल से बने हुए व्यंजनों में एक मात्रा होती है, और दीर्घ स्वरों या उनके मेल से बने हुए व्यंजनों में दो मात्राएँ मानी जाती हैं। संयुक्त वर्ण भी ह्रस्व के मेल वाले उत्तर (बाद के) व्यंजन के होने पर एक मात्रा का एंव दीर्घ-स्वर संयुक्त उत्तर वर्ण के होने पर दो मात्रा का माना जाता है। परन्तु कुछ वर्णों की मात्रा जानने में कभी कभी कठिनाई पड़ती है। उसे दूर करने के लिए निम्नलिखित नियमों को ध्यान पूर्वक समझकर स्मरण रखना चाहिए:—कविता में

[१] (क) से युक्त अक्षर के पहले का 'ह्रस्व वर्ण' प्राय. और (ख) अनुस्वर तथा (ग) विसर्ग से युक्त सदा गुरु माना

। S

जाता है। जैसे, 'गन्ध' में 'न्ध' संयुक्त अक्षर है। अत. इसके पहले का लघु अक्षर 'ग' गुरु होगा। परन्तु संयुक्त वर्ण के पहले के गुरु वर्ण की मात्रा

S S S

में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जैसे, 'मान्धाता' में 'न्ध' के पहले का 'मा', उक्त नियम के कारण गुरु न माना जायगा। वह तो स्वतः गुरु है। यदि इस पर भी नियम का प्रयोग किया जाय तो 'मा' में तीन मात्राएँ होंगी परन्तु कविता में तीन मात्रा वाले (प्लुत) वर्णों की मात्राओं की गणना नहीं होती।

कभी कभी इस नियम के अपवाद स्वरूप संयुक्ताक्षर के पहले का लघुवर्ण लघु ही माना जाता है, गुरु नहीं। संयुक्त वर्ण के पूर्व का ह्रस्व अक्षर कब गुरु होगा और कब लघु—इस बात को समझने के लिए यह स्मरण रखना चाहिए कि जब संयुक्त अक्षर के पहले का लघु वर्ण खींच कर (जरा अधिक समय लगा कर) पढ़ा जाता है तब वह गुरु होता है और जब वह हलकेपन से पढ़ा जाता है (उसके उच्चारण में कम समय लगता है) तब लघु होता है। जैसे चन्दन, बन्धन, महन्त, गङ्गा, अञ्जन—इन शब्दों में क्रमश 'च', 'ब', 'म', 'ग' और 'अ' को उच्चारण करते समय जरा खींचना सा होता है। इससे इनका उच्चारण करने में ह्रस्व वर्ण की अपेक्षा दोगुना समय लगता है। इसलिए इनकी दो मात्राएँ मानी जायँगी। ये गुरु (ऽ) वर्ण हैं। परन्तु 'तुम्हारा' 'मुन्यो', 'लह्यो', 'कुल्हाड़ा' में क्रमश 'तु', 'मु', 'ल' और 'कु' लघु माने जाते है, क्योंकि इनका उच्चारण धीरे से, ह्रस्व की भांति, किया जाता है।

(ख) वंश हंस, संशय, छंद और फंदा मे क्रमश. व, ह, स, छ, और फ अनुस्वार (ं) से युक्त ह्रस्व वर्ण होने से गुरु (ऽ) माने जायँगे।

(ग) नि.सन्देह, छन्द शास्त्र, दु ख और अन्त पुर मे क्रमश नि, द, दु, और त विसर्ग से युक्त वर्ण हैं। इससे इन्हे भी 'गुरु' माना जायगा

परन्तु चन्द्रबिन्दु (ँ) से युक्त वर्ण में दो मात्राएँ नहीं मानी जाती। वह लघु होता है। जैसे' हँसना और फँसना में 'ह' और 'फ' लघु हैं

[२] कभी कभी (सदैव नहीं, विकल्प से) चरण के अन्त का वर्ण लघु होने पर भी छन्द के नियम में गड़बड़ी न हो इसलिए गुरु मान लिया जाता है। कारण यह है कि उसके उच्चारण मे, गुरु वर्ण के समान ही, लघु की अपेक्षा दूना समय लगता है। जैसे,

इच्छा न मेरी कुछ भी बनूँ मैं,
कुबेर का भी जग मे कुबेर।

इच्छा मुझे एक यही सदा है,
नये नये उत्तम ग्रन्थ देखूँ ॥

यहाँ दूसरे चरण का अन्तिम शब्द 'कुवेर' है। इसका अन्ति वर्ण 'र' गुरु माना जायगा, क्योंकि, जैसा अन्य तीनों चरणों में देखा जाता है, इस छन्द के प्रत्येक चरण का अन्तिम वर्ण गुरु होना चाहिए।

[३] हलन्त वर्ण के पहले का वर्ण भी गुरु माना जाता हैं और

ISS SS

हल् की मात्रा नहीं गिनी जाती। जैसे, भगवान, राजन में 'न' की कोई मात्रा नहीं हैं और 'व' तथा 'ज' गुरु हैं।

[४] लिखने में दीर्घ सा होने पर भी उच्चारण में ह्रस्व होने पर वर्ण की एक मात्रा ही मानी जाती है। वह लघु ही रहता हैं। जैसे,

II

मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका, में पहले अक्षर 'मो' का उच्चारण दीर्घ नहीं है। इससे इसे लघु मानते हैं।

II

इसी प्रकार 'एक सुवन मिला हैं जो मुझे यत्न द्वारा' में पहला 'ए' ह्रस्व की तरह उच्चारित होने से लघु माना जायगा।

अत 'ओ' और 'ए'—इन स्वरों या उनके मेल से बने हुए व्यजनों के उच्चारण के अनुसार ही इनकी मात्राएँ एक या दो गिननी चाहिएँ

[५] यदि किसी शब्द या वाक्य के सर्व प्रथम संयुक्त अक्षर में दीर्घ मात्रा लगी हो तो वह गुरु माना जायगा और यदि ह्रस्व होगी तो लघु। जैसे,

III SI

'श्रवण' में 'श्र' लघु है, 'स्वार्थ' में 'स्वा' गुरु तथा 'र्थ' लघु। (यह ऊपर भी बतलाया जा चुका है)।

गण—यह तो हुई 'मात्रिक छन्दों के सम्बन्ध में सदैव ध्यान रखने की बात। अब वर्ण-वृत्तों के विषय में भी कुछ बातें समझ लेनी चाहिएँ तीन अक्षरों के सम्मिलित समूह को 'गण' कहते हैं। इस प्रकार के समूह संख्या में आठ हैं—मगण, नगण, भगण, यगण, जगण, रगण सगण और तगण। किस गण में लघु और गुरु वर्ण किस क्रम से आने चाहिएँ इसका ज्ञान नीचे लिखी तालिका में हो जायगा।—

संक्षिप्त नाम-सूचक गण का पहला वर्ण	गण का नाम	लक्षण	संकेत चिह्न द्वारा व्यक्त रूप	उदाहरण
म	मगण	{ तीनों वर्ण गुरु	S S S	जामाता
न	नगण	{ तीनों वर्ण लघु	I I I	सरल
भ	भगण	{ पहला वर्ण गुरु	S I I	सागर
य	यगण	{ पहला वर्ण लघु	I S S	विधाता
ज	जगण	{ बीच का वर्ण गुरु	I S I	सुधार
र	रगण	{ बीच का वर्ण लघु	S I S	साधना
स	सगण	{ अन्त का वर्ण गुरु	I I S	सुखदा
त	तगण	{ अन्त का वर्ण लघु	S S I	बारात

इन आठ गणों में आरम्भ के चार गण शुभ और शेष चार अशुभ माने जाते हैं। किसी कविता के प्रथम चरण के आरम्भ में इन अशुभ गणों का रखना सदोष माना जाता है। परन्तु देव वाचक शब्द होने पर दोष नहीं रह जाता।

गणों के नाम 'मन भय जर सत' याद कर लेने पर न भूलेंगे। स्मरण रहे कि इनमें से एक एक अक्षर गणों के नाम का आदि अक्षर है

"य मा ता रा ज भा न स ल ग म्"

इस सूत्र में (१) पहले आठ अक्षर गणों के नाम के आदि वर्ण हैं; "ल' और 'ग' 'लघु' और 'गुरु' सूचक—इन शब्दों के आद्यक्षर हैं। 'म्' का भी उपयोग है। बतलाया जा चुका है कि हलन्त वर्ण की मात्रा कविता में नहीं गिनी जाती, और उसके पहले का लघु वर्ण गुरु मान लिया जाता है। अतः 'ग' को (गा के सदृश मानकर) गुरु वर्ण मानना चाहिए।

(२) इस सूत्रसे गणों का लक्षण जानने के लिए क्रमशः तीन वर्णों को एक साथ लेना चाहिए। उस तीन वर्णों के समुदाय के पहले अक्षर से गण का नाम जान लिया जायगा। उस में जिस क्रम से लघु और गुरु वर्ण होंगे वही उस गण के वर्ण होंगे। जैसे, पहले तीन अक्षर लीजिए—'यमाता'—इससे यगण के ल ग ग (ऽऽ) वर्ण प्रकट हो गये ऐसे ही बीच में से 'राजभा' लेने पर रगण (ऽ।ऽ) जान लिया जायगा अन्तिम गण जानने के लिए 'सलगम्' लेना होगा। जैसा बतलाया जा चुका है, यह 'सलगा' के सदृश होगा और सगण (।।ऽ) को स्पष्ट कर देगा। शेष गण इसी रीति से निकाल लेने चाहिएँ।

अशुभ और दग्धाक्षर—अशुभ गणों की भाँति कुछ अक्षरों का भी किसी कविता के पहले चरण के आरम्भ में होना सदोष समझा जाता है। ऐसे अक्षरों को 'अशुभ' कहते हैं। स्वर सभी शुभ माने गये हैं। व्यंजनों में क ख ग घ। च छ ज। त थ ध न। य श स—ये शुभ हैं। शेष सब व्यञ्जन अशुभ। अशुभ वर्णों में झ, ह, र, भ, प, —ये पाँच तो अत्यन्त दूषित माने गये हैं। इन्हें 'दग्धाक्षर' कहते हैं। इन्हें किसी कविता के आरम्भ में कदापि न आना चाहिए। परन्तु यदि ये 'गुरु' या नाम के आद्यक्षर होकर आवें तो इनका भी दोष मिट जाता है।

तुक—छन्द से चरणों के अन्त में जब एक ही अक्षर (व्यंजन या स्वर) आया करता है—तब उस अक्षर की एकता (या समता) को तुक कहते हैं। तुक की उत्तमता के लिए अन्तिम व्यंजन के साथ ही अन्तिम स्वर की समता भी अपेक्षित है। हिन्दी में अधिकतर तुकान्त

(या अन्त्यानुप्रास से युक्त) कविता पहले से की होती आयी है। इस कारण इसके संस्कार ही तुम-समेत या तुकान्त) कविता के हो गये थे। फलत तुक से विशेष प्रकार का कर्ण-सुखद आनन्द मिलने के कारण कुछ लोगों की समझ मे कविता मे तुक अनिवार्य या अत्याव-श्यक-सा प्रतीत होती है।

परन्तु संस्कृत में प्रचुर परिमाण मे तुक-विहीन कविता पायी जाती है। हिन्दी मे भी श्रीव्रजलाल दवे कृत।शकुन्तला और उत्तर-रामचरित(के अनुवादो और पंडित सरयूप्रसाद मिश्र के रघुवंश के अनुवाद तथा श्री ग्रीहरिऔधजी के प्रियप्रवास एवं श्रीमधुरजी द्वारा अनूदित बँगला के मेघनाद वध-जैसे महाकाव्य तक पूर्ण तया भिन्न तुकान्त छन्दों मे रचे हुए मिलते हैं। इसलिए तुकान्त और अतुकान्त दोनों प्रकार की कविता हो सकती है। फिर भी तुक से कविता की रोचकता अधिक बढ़ जाती है।

तुक की उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन कोटियाँ निश्चित की गयी हैं। (१) यदि पद्य के अन्त मे दो गुरु (ऽ ऽ) आवे तो वहाँ पाँच मात्राएँ एक से स्वर की होने पर तुक उत्तम हो गी चार मात्राओं के सम स्वर होने से मध्यम और इससे कम की अधम होगी। (२) इसी तरह पद्यान्त में गुरु लघु (ऽ।) या लघु गुरु(।ऽ) होने पर पाँच मात्रओं की तुक उत्तम, चार की मध्यम और तीन की अधम तथा एक की त्याज्य होती है। और (३) यदि पद्य के अन्त मे दो लघु (।।) आवे तो चार मात्राओं की एक रूपता होने पर तुक उत्तम दो की समता होने पर मध्यम और एक की समता होने पर अधम होगी।

हिन्दी में प्राय. पांच प्रकार की तुकान्त कविता देखी जाती है.—

१—सर्वान्त्य—जिस छन्द के चारो चरणो मे तुक मिलती हो। जैसे, सवैया, कवित्त।

२—समान्त्य (सम = दूसरा, चौथा चरण) जिस छन्द मे केवल दूसरे और चौथे चरणो में तुक मिलती हो। जैसे दोहा, वरवै। या नीचे लिखा छन्द—

जो किसी को कभी नहीं भाती।
है उसी की मुझे लगन प्यारी॥
क्यों लगी आग तो मुँह तुझमें,
बात लगती अगर लगी प्यारी?

३—विषमान्त्य—(विषम = पहला, तीसरा चरण) जिस छन्द में केवल पहले और तीसरे चरणों में तुक मिलती हो। जैसे, सोरठा।

४—विषमान्त्य-समान्त्य—(पहला-तीसरा और दूसरा चौथा चरण) जिस छन्द में विषम (१, ३) चरणों की तुक आपस में मिलती हो, और सम (२, ४) की आपस में। जैसे,

न तो वह करतूत करतूत ही
जो अँधेरे में न उजियाली रखे।
तो निराली बात उसमें क्या रही
जो न काली मूँछ, मुह-लाली रखे॥

५—सम विषमान्त्य—(सम-विषम सम अन्त्य) जिस छन्द में पहले दूसरे की तथा तीसरे-चौथे चरण की तुक मिलती हो। जैसे, चौपई, चौपाई।

सम, अर्द्धसम और विषम—ऊपर तुक के अनुसार छन्दों का विभाग किया गया है। इसी प्रकार चरणों में मात्राओं या वर्णों की संख्या के अनुसार भी छन्दों के वर्ग बनाये जाते हैं। (१) जिन छन्दों के चारों चरण (मात्रा वा वर्ण की संख्या में) समान हों उन्हें 'सम' (२) जिन छन्दों में पहले-तीसरे और दूसरे चौथे चरणों में मात्राएँ या वर्ण समान संख्यक हों उन्हें 'अर्द्ध-सम' और (३) जिनके चारों चरणों की मात्राएँ वा वर्ण भिन्न-भिन्न (अ-समान) हों उसे 'विषम' कहते हैं।

हिन्दी के उन छन्दों को भी 'विषम' कहा जाता है, जिसमें छ चरण हुआ करते हैं। जैसे, छप्पय और कुण्डलिया। (ये दोनों छन्द, जैसे आगे

बतलाया जायगा, दो-दो छन्दों के मेल से बने हैं—इसी कारण इन्हें विषम माना जाता है।)

मात्राओं और वर्णों की संख्या के विचार से भी छन्दों के दो भेद किये जाते हैं—(१) साधारण और (२) दंडक। मात्रिक वृत्तों में ३२ मात्रा तक के छन्दों को 'साधारण' कहते हैं और इससे अधिक मात्रा वालों को 'दंडक'। वर्ण वृत्तों में २६ वर्णों तक के छन्द 'साधारण' कहे जाते हैं और इससे अधिक वर्ण वाले 'दंडक'।

ऊपर कहे हुए छन्दों के विविध प्रकार में से कुछ अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध वृत्तों का वर्णन आगे, संक्षेप में, किया जायगा। छन्दों का लक्षण सरलता से कंठाग्र किया जा सके—इसके लिए प्रत्येक छन्द के परिचय के आरम्भ में एक 'सूत्र' लिखा गया है। वह छन्द के एक चरण का उदाहरण भी है। उसे कठाग्र कर लेने से छन्द के लक्षण के साथ उसका एक चरण भी ज्ञात हो जायगा। कभी-कभी दो चरण भी विदित हो जायँगे।

मात्रिक-वृत्त

सम

(साधारण)

१—तोमर

(तोमर राशि गल अन्त)

तोमर के प्रत्येक चरण में १२ मात्राएँ होती है। अन्त में क्रमशः गुरु और लघु वर्ण होते हैं। जैसे,

रिपु परम कोपे जानि = १२ मात्राएँ अन्त में गुरु, लघु
प्रभु धनुष सर संधानि = १२ " " "
छाँड़े विपुल नाराच = १२ " " "
लगे कटन विकट पिसाच - १२ " " "

२—उल्लाला (चन्द्रमणि)

(उल्लाला आठरु पांच)

उल्लालाल के प्रत्येक चरण में ८ और ५ मात्राओं पर यति देकर १३ मात्राएँ हैं। जैसे,

१—भजहु सदा राधा रमन = १३ मात्राएँ ८, ५ पर यति
गावहु गुन गन ह्वै मगन = १३ " " "
वृन्दावन वासी वनौं = १३ " " "
लहौं नित्त आनँद घनौं = १३ " " "

२—यदि हो भव सागर तरन = १३ मात्राएँ ८, ५, पर यति
छोड़ दूसरों को सरन = १३ " " "
करो पोतवत हरि चरन = १३ " " "
वे ही हैं दुख के हरन = १३ " " "

३—चौपाई

(कल सोलह जत तजि चौपाई)

चौपई के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं इसके अन्त मे जगण (।ऽ।) या तगण (ऽऽ।) होने से छन्द की सुन्दरता जाती रहती है। अर्थात् इसके अन्त मे गुरु, लघु (ऽ।)रखने से छन्द की रोचकता घट जाती है। जैसे,

१—एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा।
रामचंद्र मुख चन्द्र चकोरा॥
तरुन-तमाल बरन तनु सोहा।
देखत कोटि-मदन-मन मोहा॥
२—सरवर तीर पदमिनी आई।
खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि-मुख, अंग मलयागिरि वासा।
नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥

४-रोला

(रोला कल चौबीस रुद्र, सरिता यति धारी)

रोला के प्रत्येक चरण मे ११ और १३ के विश्राम से २४ मात्राएं होती हैं। कुछ लोग इसके अन्त में दो गुरु आवश्यक मानते है। परन्तु यह अनिवार्य नहीं हैं। जैसे,

पिंग जटा को भार। सीस पैं सुन्दर सोहत,
गल तुलसी की माल। वनी जोहत मन मोहत,
कटि मृगपति को चरम। चरन में घुघँरू धारत,
नारायण गोविन्द। कृष्ण यह नाम उचारत।

५—गीतिका

(रत्न, रवि, यति, अन्त ल ग हो। तब बनेगी गीतिका)

गीतिका के प्रत्येक चरण में १४, १२ यति से २६ मात्राएँ होती

हैं। अन्त में क्रमशः लघु गुरु होता है [इस छन्द के प्रत्येक चरण की तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्रा लघु होनी चाहिए और अन्त मे रगण (SIS)। ऐसा होने से यह अत्यन्त श्रवण-सुखद हो जाता है।]

मातृ भू-सी मातृ-भू है। अन्य से तुलना नहीं।
यत्न से भी ढूँढ़ने पर। मिल नहीं सकती कभी॥
जन्मदात्री माँ हमारी। प्रेम में विख्यात है।
किन्तु वह भी मातृ-भू के। सामने बस मात है॥

[प्रत्येक चरण मे २६ मात्राएँ। १४, १२ यति। (इस छन्द की तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं—तीसरी मे क्रमशः सात-सात जोडने से बनी हुई हैं—मात्राएँ लघु है! अन्त मे रगण भी हैं।)]

२—हरिगीतिका

(शृंगार, दिनकर, यति चरन। ल ग गाइए हरिगीतिका)

हरिगीतिका के प्रत्येक पद मे १६, १२ के विराम मे २८ मात्राएँ होती हैं। अन्त मे क्रमशः एक लघु और एक गुरु वर्ण होता है। जैसे,

जनि जलपना करि सुजसु नासहि। नीति सुनहि कराह छमा।
संसार महँ पुरुष त्रिविधि। पाटल-रसाल-पनस-समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमन-फल। एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहि, कहहिं करहि अपर। एक करहि कहत न बागहीं॥

अर्द्ध-सम

१—बरवा

(विपमै बारह बरवा। सम दिन जान्त)

बरवा मे विषम (पहले, तीसरे) चरणों में १२ मात्राएँ होती हैं और सम (दूसरे, चौथे) में ७। (इस प्रकार इसके प्रत्येक 'दल' मे १९ मात्राएँ होती हैं।) सम चरणों के अन्त में जगण (ISI) छन्द की सुन्दरता को बढ़ा देता है। जैसे,

अवधि-शिला कर उर पर । था गुरु भार,
तिल तिल काट रही थी । दृग जलधार ।

२—दोहा

(तेरह विषम न जादि में सम ग्यारह कल लांत)

दोहा के विषम (पहले, तीसरे) पदों में १३ और सम (दूसरे, चौथे) में पदों ११ मात्राएँ होती हैं। विषम के आदि में जगण (। ऽ ।) न पड़ना चाहिए; परन्तु सम के अन्त लघु (।) पड़ना आवश्यक है। यथा,

लता भवन तें प्रकट भये । तेहि अवसर दोउ भाइ,
निकसे जनु जुग विमल विधु । जलद पटल विलगाइ ॥

३—सोरठा

(तेरह सम विषमेश । दोहा उलटा सोरठा)

सोरठा के विषम (पहले, तीसरे) चरणों में ११ और सम (दूसरे, चौथे) में १३—इस प्रकार प्रत्येक 'दल' में २४ मात्राएँ होती हैं। यह छन्द दोहा का ठीक उलटा होता है । अर्थात् दोहा के पहले तीसरे चरण सोरठा के दूसरे-चौथे होते हैं। और दूसरे-चौथे उसके पहले-तीसरे । जैसे,

जेहि सुमिरत सिधि होय । गन नायक करिवर-बदन ।
करहु अनुग्रह सोय । बुद्धि रासि, सुभ गुन-सदन ॥

विषम

(दण्डक)

१—कुंडलिया

(दोहा, रोला, कुंडलित कर कुंडलिया होय)

कुंडलिया में कुल छः पद होते हैं। उनमें से पहले दो चरण दोहा के दो 'दल' होते हैं और शेष चार रोला के चारों चरण। इस प्रकार प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होने से इनमें कुल १४४ मत्राएँ होती हैं। कुंडलिया में

पहले चरण का पहला शब्द (या आरंभ के कुछ शब्द) और अन्तिम चरण का अन्तिम शब्द समान होता है (या अन्त के कुछ शब्द समान होते हैं) साथ ही दोहा का चौथा चरण रोला के पहले चरण का पूर्वार्द्ध हुआ करता है। जैसे,

दोहा—भूपन ते आदर लयो दल को भयो सिगार।
अजहूँ तजी न बान गज, सिर पर डारत छार॥
रोला—सिर पर डारत छार भूल डारे मखमल की।
चल्यो हठीली चाल भयो जग सीमा बलकी॥
बरनै दीनदयाल होत नहिं कछु रूपन ते।
छुटै न बंस-सुभाय पाय आदर भूपन ते॥

४—छप्पय

(छप्पय पट्पद-छन्द, मिली रोला उल्लाल)

छप्पय में ल छः चरण होते हैं। उनमें पहले चार रोला के २४, २४ मात्राओं के (११,वह १३ की यति से) होते हैं। और अन्तिम दो उल्लाल के १५, १३ पर यति से) २८, २८ या (१३, १३ पर यति से) २६, २६ मात्राओं के होते हैं। इस प्रकार उल्लाल के दो प्रकारों के संयोग के कारण छप्पय के भी दो प्रकार होते हैं। यथा,

१—नीलाम्बर परिधान। हरित पटपर सुन्दर है। ११ + १३
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट। मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम प्रवाह। फूल तारे मंडन हैं।
वन्दीजन खग वृन्द। शेप फण सिंहासन है।
करते अभिपेक पयोद हैं। वलिहारी इस वेप की। १५ + १३
हे मातृभूमि, तू सत्य ही। सगुण मूर्ति सर्वेश की

२—उज्ज्वल हिम का रम्य। रूप तज कर गलती है ११ + १३
जन्म-भूमि को छोड़। शीघ्रता से चलती है
अचल पिता का सभी। प्रेम पीछे रहता है
करके वह पापाण। हृदय सब कुछ सहता है

पड़ता जो कुछ मार्ग में। करती मटियामेट है। १३+१३
किससे करने जा रही। तरंगिणी, तू भेंट है?

वर्ण-वृत्त

(साधारण)

१—इन्द्रवज्रा

(ता ता ज गा गा शुभ इन्द्रवज्रा)

त त ज ग गअर्थात् दो तगण (SSI, SSI), जगण (ISI) और गुरु (SS)—इस प्रकार प्रत्येक चरण में ११ वर्णों का इन्द्रवज्रा होता है। जैसे,

मैं जो न। या ग्रंथ। विलोक। ता हूँ=त त ज ग ग,
भाता सु। मेरे सो न। व मित्र। सा है
देखूँ उ। से मैं नि। त बार। बार
मानो मि। ला मित्र। मुझे पु। राना

२—उपेन्द्र वज्रा

(उपेन्द्रवज्रा ज त जा ग गा है)

ज त ज ग ग अर्थात् जगण (ISI), तगड़ (SSI) और दो गुरु (SS)—इस तरह प्रति चरण में ११ वर्णों का उपेन्द्रवज्रा होता है। यह इन्द्रवज्रा से वर्णों की संख्या में समानता के साथ ही प्रायः पूर्ण रूप से मिलता जुलता है।

'इन्द्रवज्रा' का पहला वर्ण लघु (I) कर देने अर्थात् तगण (SSI) का जगण (ISI) कर देने से 'उपेन्द्रवज्रा' बन जाता है। जैसे,

कहीं व। हीं भूल न जाइ। एगा=ज त ज ग ग
पधारि। ए सत्व। र आइ। ए गा।
बने स्व। यं सत्य। थ सौख्य। कारी।
सुकर्म। हीं विघ्न। विपत्ति। हारी।

विशेष—इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के चरणों के भिन्न-भिन्न प्रकार के मेल से भी कई छन्द बनते हैं। उन्हें 'उपजाति' कहते हैं। जैसे,

सद्धर्म । का मार्ग तुम्ही ब । ताते (इन्द्रवज्रा)
तुम्हीं अ । घों से ह । मको ब । चाते (उपेन्द्रवज्रा)
हे ग्रन्थ । विद्वान् । तुम्ही ब । नाते (इन्द्रवज्रा)
तुम्हीं दु । खों से ह । मको छु । ड़ाते (उपेन्द्रवज्रा)

इसी प्रकार और कई प्रकार के उपजाति हो सकते हैं। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मेल से बने हुए 'उपजाति' वृत्तों के १४ प्रकार होते हैं।

अन्य भी दो प्रकार के छन्दों के मेल से बने छन्दों को भी 'उपजाति' कहते हैं।

'उपजाति वृत्त' के नामकरण का नियम यह है कि उसमें जिस छन्द के अनुसार बने अधिक चरण रहते हैं, उसी का नाम उसे दे दिया जाता है।

३—वसंततिलका

(जानो वसंततिलका त भ जौ ज गौ गा)

त भ ज ज ग ग अर्थात् तगण (SSI), भगण (SII), दो जगण (ISI, ISI) और दो गुरु (SS)—इस प्रकार प्रत्येक चरण में १४ वर्णों का वसंततिलका होता है। प्रत्येक चरण के आठवें वर्ण पर यति होती है। जैसे,

बातें बड़ी सरस थे । कहते बिहारी ।
छोटे बड़े सकल का । हित चाहते थे ॥
अत्यन्त प्यार सँग थे । मिलते सबों से ।
वे थे सहायक बड़े । दुख के दिनों में ॥

सवैया

२२ से लेकर २६ वर्णों तक के वृत्त 'सवैया' कहलाते हैं। आगे कुछ मुख्य मुख्य सवैया छन्दों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है —

मदिरा

(भागण सात मिला गुरु एक रचो 'मदिरा' शुभ मोदमयी)

सात भगण (SII) और एक गुरु (S)—इस प्रकार २२ वर्णों का 'मदिरा' सवैया होता है। जैसे,

राम को काम कहा ? रिपु जीतहिं, कौन कबै रिपु जीत्यो कहाँ ?
बालि बली, छल सों; भृगुनन्दन गर्व हरो, द्विज दीन महा ॥ १
दीन सो क्यों ? छिति छत्र हत्यो, बिन प्रानिनि हैहयराज कियो ।
हैहय कौन ? वहै बिसर्यो, जिन खेलत ही तुम्हें बाँधि लियो ॥

२—चकोर

(भागण सात मिला गल लेत 'चकोर' कलानिधि हेतु सुहात्)

सात भगण (SII), एक गुरु (S) और एक लघु (I) अर्थात् २३ वर्णों का 'चकोर' सवैया होता है। जैसे,

सावन आय समीप लगो तब नारि के प्रान बचावन काज ।
बादर दूत बनावन को कुसलात सँदेस पठावन काज ॥
कूटज फूल नये कर लै, मन कल्पित अर्घ बनावन काज ।
बोल उठ्यो हँसते मुख ह्वै वह मेघ तें प्रीति बढ़ावन काज ॥

३—मत्तगयंद

(भागण सात मिला गुरु दो रच लो तुम 'मत्तगयंद' सवैया)

सात भगण (SII) और दो गुरु (SS) अर्थात् २३ वर्णों का 'मत्तगयंद सवैया होता है। इसे 'मालती' और 'इन्दव' भी कहते हैं। यथा,

प्रात-प्रयाण-कथा सुनके उसके मुख पंकज का मुरझाना ।
और जरा हँस के उसका अपने मन का वह भाव छिपाना ॥
किन्तु अचानक ही उसके वर लोचन मे जल का भर आना ।
सम्भव है न कभी मुझको इस जीवन में वह दृश्य भुलाना ॥

४—सुमुखी

('ज' सात 'ल' 'गा' 'सुमुखी' रचिए मन मोहकता अति शुभ्र लसै)

सात जगण (।ऽ।) और एक लघु (।) एवं एक गुरु (ऽ) अर्थात् २३ वर्णों का 'सुमुखी' सवैया वृत्त होता है इसे 'मानिनी' और मल्लिका' भी कहते हैं। जैसे,

कुमार । के रंग निवास । की हैं अ । लबेली । नवेली । तहाँ र । मनी ।
लसै छवि सोवत में मुख की प्रति एक की ऐसी लुनाई सनी ॥
परै कहुँ जाहि पै दीठि जहाँ सोइ लागति सुन्दरि ऐसी घनी ।
रहै कहि आवत है मन में सब में यह रत्न-अमोल धनी ॥

(सूचना—प्रथम चरण के 'के', 'की', 'ली' और 'ली' तथा अन्य चरणों के भी कुछ वर्ण लघु हैं।)

५—किरीट

(भगण आठ मिला रच लो शुभ छन्द 'किरीट' मनोहर सुन्दर)

आठ भगण (ऽ।।) अर्थात् २४ वर्णों का 'किरीट' सवैया होता है। जैसे,

जाके विलोकत लोकप होत विसोक लहैं सुर लोक सुठौरहि,
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला रिझवै सुरमौरहि ।
ताको कहाय, कहै तुलसी, तू लजाहि न माँगत कूकुर-कौरहि,
जानकी-जीवन को जनहै जरि जाहु सो जीह जो जाँचत औरहि ।

६—दुर्मिल

(सगना जब आठ रहैं पद में तब 'दुर्मिल' होत सुछन्द छटा)

आठ सगण (।।ऽ) अर्थात् २४ वर्णों का 'दुर्मिल' सवैया होता है। इसे 'चन्द्रकला' भी कहते हैं जैसे,

इनके अनुरूप कहैं किनको, बस कौन सुदेस समुन्नत है ?
समझैं सुरलोक समान इसे इनका अनुमान असंगत है ॥

कवि कोविद वृन्द बखान रहे सबका अनुभूत यही मत है।
उपमान विहीन रचा विधि ने बस भारत के सम भारत है॥

७—अरसात

(भागण सात मिले रगना इक मञ्जुल छन्द बने 'अरसात' है)

सात भगण (S I I) और एक रगण (S I S) अर्थात २४ वर्णों का 'अरसात' सवैया होता है। जैसे,

जा 'थल' कीन्हें विहार अनेकन, ता थल कॉकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना तें करी बहु बातनि, ता रसना तें चरित्र गुन्यो करैं।'
'आलम' जौन से कुंजन मे, करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा बसते तिनकी, अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

८—सुंदरी

(अठ सागण एक मिला करके गुरु 'सुन्दरी' नामक छन्द बनावे)

आठ सगण (I I S) और एक गुरु (S) अर्थात् २५ वर्णों का 'सुन्दरी' सवैया छन्द होता है। जैसे,

यहि बेतस बल्लरि पै खग बैठि, कलोल भरे मृदु बोल सुनावें।
तिन सों झरे पुष्प सुगन्धित तोय, वहै अति सीतल हीतल भावें॥
फल-पुंज पकेनि के कारन स्यामल, मंजुल जंबु निकुंज लखावें।
उनमें रुककें करि घोर घनी, झरनानि के सोत समूह लखावें।'

(दंडक)

प्रत्येक चरण में २६ वर्णों से अधिक वर्ण वाले छन्द 'दंडक वृत्तों के अन्तर्गत होते हैं। उनमें से ऐसे छन्द 'मुक्तक कहलाते हैं, जिनमें वर्णों की संख्या का ही प्रमाण रहता है, या कहीं कहीं गुरु-लघु का भी नियम रहता है। इन्हें मुक्तक इसलिए कहते हैं कि ये 'गणों' के बंधन से मुक्त होते हैं। 'मुक्तकों' में 'कवित्त' और 'घनाक्षरी' नामक वृत्त बहुत प्रसिद्ध हैं।

कवित्त या मनहर

('याम' 'योग' कर यति देके भक्ति राग।
संयुत कवित्त मनहरण बनाइए)

मनहर या कवित्त (अथवा मनहरण कवित्त) के प्रत्येक चरण में कुल ३१ वर्ण होते हैं। उनमे १६, १५ वर्णों पर यति होती है। इस छन्द मे अन्तिम वर्ण गुरु होता है। यथा,

आते जो यहाँ हैं व्रजभूमि की छठा वे देख,
नेक न अघाते होते मोद मद माते है।
जिस ओर जाते उस उस ओर मनभाये दृश्य,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं॥
पल भर को वे अपने को भूल जाते सदा,
सुखद अतीत-सुध-सिन्धु मे समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हे आज भी कन्हैया यहाँ,
मैया मैया टेरते हैं गैया को चराते हैं॥

घनाक्षरी

घनाक्षरी के दो भेद होते हैं (१) रूप घनाक्षरी और देवघनाक्षरी।

रूप घनाक्षरी

(आठ, आठ, आठ, आठ। पर यति दे बत्तीस। की 'रूपक घनाक्षरी' रचो चरण सुचार)

रूप-घनाक्षरी मे ८, ८, ८, ८ की यति मे प्रत्येक चरण मे ३२ वर्ण होते है। प्रत्येक चरण के दो वर्ण अन्त के गुरु-लघु (ऽ।), होते हैं। जैसे,

जिसे सुनने को दौड़ती थीं गोपिकाएँ सब,
निज शिशुओं को छोड़ दूध का कराना पान।
दूब चरना भी भूल गोकुल की गायें कुल,
नित्य सुनती थीं जिसे ध्यान से लगा के कान॥
जिसको श्रवण कर नर, पशु, पक्षी सभी,
सुध-बुध भूलते थे मन्त्र-मुग्ध के समान।
प्रार्थना यही है मुझको भी एक बार वही,
मुरलीमनोहर सुना दो मुरली की तान॥

देव घनाक्षरी

• (तेंतीस वर्ण की देव। घनाक्षरी होती मंजु।
आठ, आठ, आठ, नव। पर विराम रखकर।)

देव घनाक्षरी के प्रत्येक चरण में ८, ८, ८, ९ के विराम से ३३ वर्ण होते हैं। प्रत्येक चरण के अन्तिम तीन वर्ण लघु होते हैं। जैसे,

झिल्ली झनकारैं पिक, चातक पुकारैं वन,
मोरनी गुहारैं उठैं, जुगुनू चमकि चमकि।
घोर घनकारे भारे, धुरवा धुरारे धाम,
धूमनि मचावैं नाचैं, दामिनि दमकि दमकि॥
झूकनि बयार बहै, लूकनि लगावैं अंग,
हूकनि भभूकनि की, उर में खमकि खमकि।
कैसे करि राखौं प्रान, 'प्यारे ,जसवंत' बिना,
नान्ही नान्ही बूँद झरै [illegible] कि झमकि॥